वार्षिक रु. ६०.०० मूल्य रु. ८.००

विवेक-ज्योति

वर्ष ४७ अंक १ जनवरी २००९

रामकृष्ण मिशन, विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ. ग.)

मंगल कामना

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखःभाग्भवेत्॥
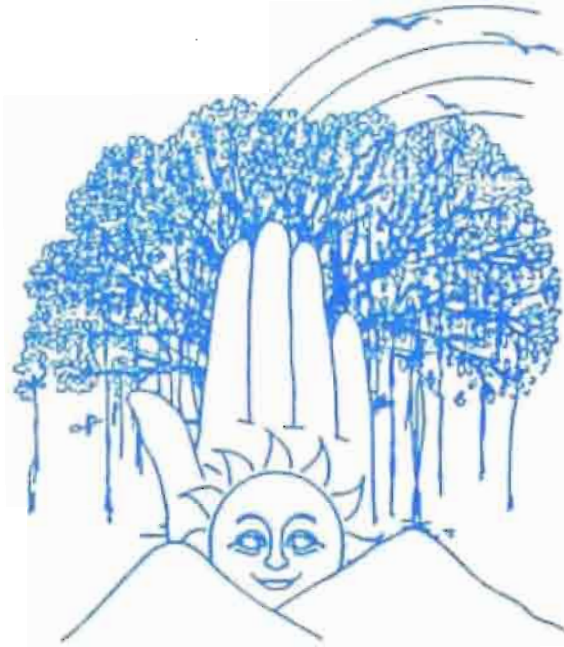
सब सुखी हों।

सब रोगरहित हों।

सब कल्याण का साक्षात्कार करें।

दुःख का अंश किसी को भी प्राप्त न हो।

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

जनवरी २००९

प्रबन्ध सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४७
अंक १

वार्षिक ६०/– **एक प्रति ८/–**

५ वर्षों के लिये – रु. २७५/–

संस्थाओं के लिये –

वार्षिक ९०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ४००/–

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/–

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर; आजीवन २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

(सदस्यता -शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५
०७७१ – २२२५२६९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन २५४६६०३

विवेक-ज्योति के प्रचार हेतु अनुरोध

प्रिय मित्र,

युगावतार श्रीरामकृष्ण तथा आचार्य स्वामी विवेकानन्द के आविर्भाव से विश्व-इतिहास के एक अभिनव युग का सूत्रपात हुआ है। इसके फलस्वरूप पिछली एक शताब्दी के दौरान भारतीय जन-जीवन की प्रत्येक विधा में एक नव-जीवन का संचार हुआ दीख पड़ता है। राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, ईसा, मुहम्मद, शंकराचार्य, चैतन्य, नानक तथा रामकृष्ण-विवेकानन्द - आदि कालजयी विभूतियों के जीवन तथा कार्य अल्पकालिक होते हुए भी, प्रभाव की दृष्टि से चिरस्थायी होते हैं और सहस्रों वर्षों तक कोटि-कोटि लोगों की आस्था, श्रद्धा तथा प्रेरणा के केन्द्र-बिन्दु बनकर विश्व का असीम कल्याण साधित करते हैं। सम्भवतः आपका ध्यान इस ओर गया हो कि उपरोक्त दो विभूतियों से निःसृत भावधारा दिन-पर-दिन उत्तरोत्तर व्यापक होती हुई, न केवल पूरे भारतवर्ष, अपितु सम्पूर्ण विश्ववासियों के बीच पारस्परिक सद्भाव को अनुप्राणित कर रही है।

भारत की सनातन वैदिक परम्परा, मध्यकालीन हिन्दू संस्कृति तथा श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द के सर्वग्राही तथा उदार सन्देश का प्रचार-प्रसार करने के निमित्त स्वामीजी के जन्मशताब्दी वर्ष १९६३ ई. से इस पत्रिका को त्रैमासिक रूप में आरम्भ किया गया था। तब से ३६ वर्षों की सुदीर्घ अवधि तक उसी रूप में और पिछले १० वर्षों से मासिक के रूप में अबाध गति से प्रज्वलित रहकर यह 'ज्योति' भारत के कोने-कोने में बिखरे अपने सहस्रों प्रेमियों का हृदय आलोकित करती रही है।

आज के संक्रमण-काल में, जब असहिष्णुता तथा कट्टरतावाद की आसुरी शक्तियाँ सुरसा के समान अपने मुख फैलाए पूरी विश्व-सभ्यता को निगल जाने के लिए आतुर हैं, इस 'युगधर्म' के प्रचार रूपी पुण्यकार्य में सहयोगी होकर इसे घर-घर पहुँचाने में क्या आप भी हमारा हाथ नहीं बटायेंगे? आपसे हमारा हार्दिक अनुरोध है कि कम-से-कम पाँच नये सदस्यों को 'विवेक-ज्योति' परिवार में सम्मिलित कराने का संकल्प आप अवश्य लें। इसका वार्षिक शुल्क अत्यल्प - मात्र रु. ६०/- ; ५ वर्षों के लिए रु. २७५/- और आजीवन (२५ वर्षों के लिए) रु. १२००/- मात्र है। अपने मित्रों, परिचितों, प्रियजनों तथा सम्बन्धियों से इस वर्ष के लिए सदस्यता-शुल्क एकत्र करके या अपनी ओर से उपहार के रूप में उनके पतों के साथ हमें अवश्य भेज दें।

— व्यवस्थापक, 'विवेक-ज्योति' मासिक
रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर - ४९२ ००१ (छ.ग.)

प्रकाशन विषयक विवरण

(फार्म ४ नियम ८ के अनुसार)

१. प्रकाशन का स्थान - रायपुर
२. प्रकाशन की नियतकालिकता - मासिक
३-४. मुद्रक एवं प्रकाशक - स्वामी सत्यरूपानन्द
५. सम्पादक - स्वामी विदेहात्मानन्द
राष्ट्रीयता - भारतीय
पता - रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर
स्वत्वाधिकारी - रामकृष्ण मिशन, बेलूड़ मठ के ट्रस्टीगण -

स्वामी आत्मस्थानन्द, स्वामी गीतानन्द, स्वामी स्मरणानन्द, स्वामी प्रमेयानन्द, स्वामी प्रभानन्द, स्वामी भजनानन्द, स्वामी सुहितानन्द, स्वामी श्रीकरानन्द, स्वामी शिवमयानन्द, स्वामी गौतमानन्द, स्वामी मुमुक्षानन्द, स्वामी वागीशानन्द, स्वामी तत्त्वबोधानन्द, स्वामी आत्मारामानन्द, स्वामी गिरीशानन्द, स्वामी विमलात्मानन्द,स्वामी दिव्यानन्द, स्वामी सुवीरानन्द, स्वामी बोधसारानन्द, स्वामी तत्त्वविदानन्द।

मैं स्वामी सत्यरूपानन्द घोषित करता हूँ कि ऊपर दिये गये विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सत्य हैं।

(हस्ताक्षर)
स्वामी सत्यरूपानन्द

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव **स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर** से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट – **'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़)** के नाम से बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना नाम, पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नं. आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक रहने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(४) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रुपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमें मत भेजें।

(५) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

विवेक-चूडामणि

– श्री शंकराचार्य

ऋणमोचनकर्तारः पितुः सन्ति सुतादयः ।
बन्धमोचनकर्ता तु स्वस्मादन्यो न कश्चन ।।५१।।

अन्वय – पितुः ऋणमोचन-कर्तारः सुतादयः सन्ति, तु (संसार) बन्धमोचन-कर्ता स्वस्मात् अन्यः कश्चन न (अस्ति) ।

अर्थ – (गुरु बोले –) पिता का ऋणमोचन करनेवाले तो पुत्र आदि हो सकते हैं, परन्तु (अविद्यामय संसार के) बन्धन से मुक्त करनेवाला तो स्वयं को छोड़ दूसरा कोई नहीं होता ।

मस्तकन्यस्तभारादेर्दुःखमन्यैर्निवार्यते ।
क्षुधादिकृतदुःखं तु विना स्वेन न केनचित् ।।५२।।

अन्वय – मस्तक-न्यस्त-भारादेः दुःखम् अन्यैः निवार्यते, तु क्षुधादि-कृतदुःखं स्वेन विना न केनचित् (निवार्यते) ।

अर्थ – सिर पर रखे हुए भार आदि से होनेवाले कष्ट से दूसरे लोग छुटकारा दिला सकते हैं, परन्तु भूख-प्यास आदि से उत्पन्न होनेवाला दुःख स्वयं (भोजन आदि) के बिना अन्य किसी के द्वारा दूर नहीं किया जा सकता ।

पथ्यमौषधसेवा च क्रियते येन रोगिणा ।
आरोग्यसिद्धिर्दृष्टाऽस्य नान्यानुष्ठितकर्मणा ।।५३।।

अन्वय – येन रोगिणा औषध-सेवा च पथ्यम् क्रियते; अस्य आरोग्य-सिद्धिः दृष्टा, अन्य अनुष्ठित-कर्मणा न (दृष्टा) ।

अर्थ – जो रोगी दवा व सेवन तथा उपयुक्त पथ्य ग्रहण करता है, उसी को आरोग्य होते हुए देखा जाता है। अन्य कोई कर्म करने से वह नीरोग होते हुए नहीं दिखता ।

वस्तुस्वरूपं स्फुटबोधचक्षुषा
स्वेनैव वेद्यं न तु पण्डितेन ।
चन्द्रस्वरूपं निजचक्षुषैव
ज्ञातव्यमन्यैरवगम्यते किम् ।।५४।।

अन्वय – वस्तु-स्वरूपं स्वेन एव स्फुट-बोध-चक्षुषा वेद्यं, पण्डितेन तु न (वेद्यम्) । चन्द्र-स्वरूपं निज-चक्षुषा एव ज्ञातव्यम्, अन्यैः किम् अवगम्यते?

अर्थ – जैसे चन्द्रमा का स्वरूप किसी अन्य की आँखों से नहीं, बल्कि अपनी ही आँखों द्वारा देखकर समझा जा सकता है, वैसे ही आत्मा-रूपी वस्तु का स्वरूप किसी विद्वान् के द्वारा नहीं, अपितु अपनी ही ज्ञान-दृष्टि से जानने योग्य है ।

अविद्याकामकर्मादिपाशबन्धं विमोचितुम् ।
कः शक्नुयाद्विनात्मानं कल्पकोटिशतैरपि ।।५५।।

अन्वय – कल्पकोटिशतैः अपि आत्मानं विना, अविद्या-काम-कर्मादिपाशबन्धं विमोचितुम् कः शक्नुयात् ?

अर्थ – अविद्या-कामना-कर्म (के चक्र) आदि का बन्धन, सैकड़ों करोड़ युगों में भी अपने प्रयास के बिना, भला कौन दूर कर सकता है? (अर्थात् मुक्ति स्वचेष्टा से ही होगी ।)

न योगेन न सांख्येन कर्मणा नो न विद्यया ।
ब्रह्मात्मैकत्वबोधेन मोक्षः सिध्यति नान्यथा ।।५६।।

अन्वय – योगेन न, सांख्येन न, कर्मणा नो, विद्यया न, (तु) ब्रह्म-आत्मा-एकत्व-बोधेन मोक्षः सिध्यति, अन्यथा न ।

अर्थ – मोक्ष की सिद्धि योग, या सांख्य, या कर्म, अथवा शास्त्र-अध्ययन के द्वारा नहीं; अपितु केवल ब्रह्म तथा आत्मा के एकत्व-बोध के द्वारा ही सम्पन्न होती है ।

❖ (क्रमशः) ❖

विवेकानन्द-वन्दना

– १ –

(बागेश्री–रूपक)

जग विमल आनन्दमय हो।
विश्व के इस नव्य युग में, सब विवेकानन्दमय हो।।

घोर निद्रा में रहा रत, आत्मविस्मृत वर्ष शत शत
जागता लेकर महाव्रत, अब पुनः इक बार भारत
शान्ति-सुख आचार-निष्ठा, ज्ञान-विद्या का निलय हो।। जग.।।

दोष-बन्धन गिर रहे हैं, दिवस स्वर्णिम फिर रहे हैं,
ले रहा आदर्श जग वे, जो हमारे चिर रहे हैं,
युगपुरुष आचार्य शिक्षक, ज्ञान के स्वामी की जय हो।। जग.।।

क्षुब्धता को शान्त करने, मोहमय अज्ञान हरने,
दूर कर विष-भोग-चिन्तन, प्रीति से मन-प्राण भरने,
विश्व के विस्तीर्ण पट पर, हिन्द का फिर से उदय हो।। जग.।।

– २ –

(दरबारी-कान्हरा या मालकौंस–झापताल)

स्वामीजी आए हैं, लेकर नवऽऽलोक,
सुधरेगा अब सबका, इहलोक-परलोक ।।

अब देश में शान्ति का राज्य होगा,
अब से न कोई भी चिर-त्याज्य होगा,
सब मिल के भारत की सेवा करेंगे,
उन्नति हमारी न सकता कोई रोक ।।

तुमको है निज सिंह विक्रम दिखाना,
जग को है जीवन का दर्शन सिखाना,
तुम पर ही निर्भर है भावी जगत् का,
समझो स्वयं को न कमजोर डरपोक ।।

भारत पुनः विश्व को ज्ञान देगा,
अन्याय-शोषण न कोई करेगा,
हिल-मिल के सब एक परिवार होंगे,
मिटकर रहेंगे जगत् से कु-भय-शोक ।।

– विदेह

शिक्षा द्वारा नारी-जागरण

स्वामी विवेकानन्द

स्वामीजी की भारत सम्बन्धी उक्तियों का एक उत्कृष्ट संकलन कोलकाता के रामकृष्ण मिशन इंस्टीट्यूट ऑफ कल्चर ने My India, The India Eternal शीर्षक पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया है। प्रस्तुत है उन्हीं उक्तियों का हिन्दी रूपान्तरण। – सं.)

नारियों की शिक्षा

धर्म, शिल्प, विज्ञान, गृहकार्य, रसोई, सिलाई, स्वास्थ्य आदि सब विषयों की मोटी-मोटी बातें सिखलाना उचित है। नाटक और उपन्यास तो उनके पास पहुँचने ही नहीं चाहिये।... परन्तु केवल पूजा-पाठ सिखाने से ही काम नहीं बनेगा। सब विषयों में उनकी आँखें खोल देनी होगी। छात्राओं के सामने सर्वदा आदर्श नारी-चरित्र रखकर त्यागरूप व्रत में उनका अनुराग जगाना होगा। कुमारियों को सीता, सावित्री, दमयन्ती, लीलावती, खना, मीराबाई, आदि के जीवनियाँ बताकर उनको वैसा ही जीवन बनाने का उपदेश देना होगा।[३२]

असल बात है कि शिक्षा हो या दीक्षा, धर्महीन होने पर उसमें त्रुटि रह ही जाती है। धर्म को केन्द्र बनाकर स्त्री-शिक्षा का प्रचार करना होगा। धर्म के अतिरिक्त दूसरी शिक्षायें गौण होंगी। धर्म-शिक्षा, चरित्र-गठन तथा ब्रह्मचर्य-पालन – इन्हीं के लिये तो शिक्षा की आवश्कता है। वर्तमान काल में आज तक भारत में स्त्री-शिक्षा का जो प्रचार हुआ है, उसमें धर्म को ही गौण बनाकर रखा गया है।[३३]

बोलचाल की भाषा में शिक्षा

हमारे देश में प्राचीन काल से सभी विद्याएँ संस्कृत में ही विद्यमान रहने के कारण, विद्वानों तथा आम जनता के बीच एक अगाध समुद्र-सी दूरी बना रही। बुद्धकाल से लेकर चैतन्य एवं श्रीरामकृष्ण तक जो भी महापुरुष लोक-कल्याण हेतु अवतीर्ण हुये, उन सबने आम जनता की भाषा में जनता को उपदेश दिया है। पाण्डित्य उत्तम है, पर पाण्डित्य का प्रदर्शन क्या जटिल, अप्राकृतिक तथा कल्पित भाषा को छोड़ अन्य किसी भाषा में नहीं हो सकता? कलात्मक निपुणता क्या बोलचाल की भाषा में नहीं प्रदर्शित की जा सकती? स्वाभाविक भाषा को छोड़ एक अस्वाभाविक भाषा को तैयार करने से क्या लाभ? घर में हम जिस भाषा में बातचीत करते हैं, उसी में हम सारे पाण्डित्यपूर्ण विषयों पर विचार भी करते हैं; तो फिर लिखते समय हम क्यों जटिल भाषा का प्रयोग करने लगते हैं? जिस भाषा में तुम अपने मन में दर्शन या विज्ञान के बारे में सोचते हो, आपस में बातें करते हो, उसी भाषा में क्या दर्शन या विज्ञान नहीं लिखा जा सकता? यदि कहो, नहीं, तो फिर उस भाषा में तुम अपने मन में अथवा कुछ व्यक्तियों के साथ उन सब तत्त्वों पर विचार-विमर्ष कैसे करते हो? जिस भाषा में हम स्वाभाविक रूप से अपने मन के विचार प्रकट करते हैं, जिस भाषा में हम अपना क्रोध, दु:ख तथा प्रेम आदि व्यक्त करते हैं, उससे अधिक उपयुक्त भाषा और कौन-सी हो सकती है! अत: हमें उसी भाव, उसी शैली को बनाये रखना होगा। उस भाषा में जितनी शक्ति है, उसमें जैसे थोड़े-से शब्दों में अनेक विचार व्यक्त हो सकते हैं तथा उसे जैसे चाहो, घुमा-फिरा सकते हो, वैसे गुण किसी कृत्रिम भाषा में कदापि नहीं आ सकते। भाषा को ऐसा बनाना होगा – जैसे शुद्ध इस्पात, उसे जैसा चाहो मोड़ लो, पर फिर वैसे का वैसा; कहो तो एक चोट में ही पत्थर को काट दे, पर धार न टूटें। हमारी भाषा, संस्कृत के समान बड़े-बड़े निरर्थक शब्दों का प्रयोग करके और उसके आडम्बर की – केवल उसके इसी एक पहलू की – नकल करते-करते अस्वाभाविक होती जा रही है। भाषा ही तो राष्ट्र की उन्नति का प्रधान लक्षण एवं उपाय है।... **भाषा विचारों की वाहक है। भाव ही प्रधान है, भाषा गौण है।...** जो भाषा, शिल्प तथा संगीत भावहीन तथा निष्प्राण है; वह किसी भी काम का नहीं। अब लोग समझेंगे कि राष्ट्रीय जीवन में ज्यों-ज्यों स्फूर्ति आती जायेगी; त्यों-त्यों भाषा, शिल्प, संगीत आदि अपने आप भावमय तथा जीवन्त होते जायेंगे; दो प्रचलित शब्दों से जो तात्पर्य प्रकट होंगे, वे दो हजार छँटे हुये विशेषणों से भी नहीं होंगे।[३४]
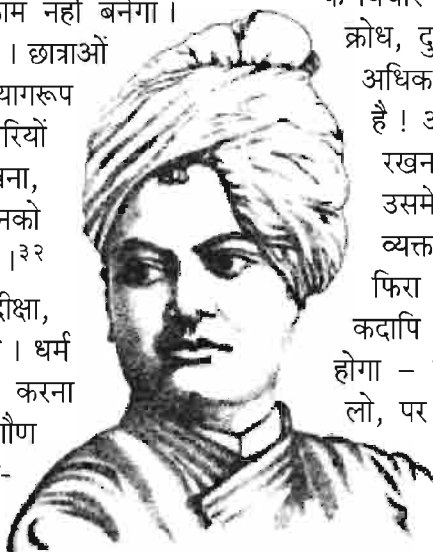
शिक्षक की महानता उसकी सरल भाषा में निहित है।[३५]

भाषा सम्बन्धी मेरा आदर्श मेरे गुरुदेव श्रीरामकृष्णदेव की भाषा है, जो थी तो निन्तात बोल-चाल की भाषा, परन्तु साथ ही भावों को परम अभिव्यक्ति प्रदान करनेवाली भी थी।[३६]

नारी-शक्ति और उसका जागरण

भारतीय नारी का आदर्श

हे भारत! तुम मत भूलना कि तुम्हारी स्त्रियों का आदर्श सीता, सावित्री, दमयन्ती हैं।[१]

भारतवर्ष में स्त्रीत्व मातृत्व का ही बोधक है, मातृत्व में महानता, नि:स्वार्थता, कष्ट-सहिष्णुता और क्षमाशीलता का भाव निहित है।[२]

पूर्व की स्त्रियों को पश्चिमी मानदण्ड से जाँचना उचित नहीं है। पश्चिम में स्त्री पत्नी है, पूर्व में वह माँ है।[३]

भारत में नारी ईश्वर की साक्षात् अभिव्यक्ति है तथा उसका सम्पूर्ण जीवन इस विचार से ओतप्रोत है कि वह माँ है और पूर्ण माँ बनने के लिये उसे पतिव्रता रहना आवश्यक है।[४] हमारी स्त्रियाँ इतनी विदुषी नहीं, परन्तु वे अधिक पवित्र हैं। प्रत्येक स्त्री के लिये अपने पति को छोड़ अन्य कोई भी पुरुष पुत्र जैसा होना चाहिये।[५]

प्रत्येक पुरुष के लिये अपनी पत्नी को छोड़कर अन्य सब स्त्रियाँ माता के समान होनी चाहिये। जब मैं अपने आसपास देखता हूँ और (पश्चिमी देशों में) gallantry (नारी-भक्ति) के नाम पर जो कुछ चलता है, वह देखता हूँ, तो मेरी आत्मा ग्लानि से भर उठती है। जब तक तुम्हारी स्त्रियाँ यौन-सम्बन्धी प्रश्न की उपेक्षा करके सामान्य मानवता के स्तर पर नहीं मिलती, उनका सच्चा विकास नहीं होगा। तब तक वे सिर्फ खिलौना बनी रहेंगी, और कुछ नहीं। यही सब तलाक का कारण है। तुम्हारे पुरुष नीचे झुकते हैं और कुर्सी देते हैं, फिर अगले ही क्षण वे प्रशंसा में कहना शुरू करते हैं – "देवीजी, तुम्हारी आँखें कितनी सुन्दर हैं!" उन्हें यह करने का क्या अधिकार है? एक पुरुष इतना साहस क्यों कर पाता है और तुम स्त्रियाँ कैसे इसकी अनुमति दे सकती हो? ऐसी चीजों से मानवता के अधमतर पक्ष का विकास होता है। ये हमें उच्चतर आदर्शों की ओर नहीं ले जातीं।

हमें यह न सोचकर कि हम स्त्री और पुरुष हैं, यह सोचना चाहिये कि हम मानव हैं; जो एक दूसरे की सहायता करने और एक दूसरे के काम आने के लिये जन्मे हैं।[५]

नारियों की उपेक्षा ही भारत के पतन का कारण

भारत में दो बड़ी बुरी बातें हैं। स्त्रियों का तिरस्कार और गरीबों को जाति-भेद के द्वारा पीसना।[६]

जिन परिवारों में स्त्रियों से अच्छा व्यवहार किया जाता है और वे सुखी हैं, उन पर देवताओं का आशीर्वाद रहता है – **यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता**। अमेरिका के पुरुष ऐसा ही करते हैं और इसीलिये ये सुखी, विद्वान्, स्वतंत्र और उद्योगी हैं। दूसरी ओर भारत में हम लोग स्त्री-जाति को नीच, अधम, परम हेय तथा अपवित्र कहते हैं। फल हुआ – हम लोग पशु, दास, उद्यमहीन और दरिद्र हो गये।[७]

शक्ति के बिना जगत् का उद्धार नहीं हो सकता। क्या कारण है कि संसार के सब देशों में हमारा देश ही सबसे अधम है, शक्तिहीन है, पिछड़ा हुआ है? इसका कारण यही है कि वहाँ शक्ति का अनादर होता है।[८]

स्त्री-पुरुष के बीच भेदभाव अनुचित

यह समझना कठिन है कि इस देश में पुरुष तथा स्त्रियों के बीच इतना भेद क्यों किया जाता है। वेदान्त शास्त्र में तो कहा है कि एक ही चित् सत्ता सर्वभूत में विद्यमान है। तुम लोग स्त्रियों की निन्दा ही करते हो। उनकी उन्नति के लिये तुमने क्या किया, बोलो तो?[९]

आत्मा में भी कहीं लिंग-भेद है? स्त्री और पुरुष का भाव दूर करो, सब आत्मा है।[१०]

नारियों का सम्मान हो

क्या तुम अपने देश की महिलाओं की अवस्था सुधार सकते हो? तभी तुम्हारे कल्याण की आशा की जा सकती है, नहीं तो तुम ऐसे ही पिछड़े पड़े रहोगे।[११]

स्त्री में जो दिव्यता निहित है, उसे हम कभी ठग नहीं सकते। वह न कभी ठगी गयी है, न ठगी जायेगी। यह सदैव अपना प्रभाव जमा लेती है तथा सदैव ही अचूक रूप से बेइमानी तथा ढोंग को पहचान लेती है और सत्य के तेज, आध्यात्मिकता के आलोक तथा पवित्रता की शक्ति का इसे निश्चय ही पता चल जाता है। यदि हम वास्तविक धर्मलाभ करना चाहते हैं, तो ऐसी पवित्रता अनिवार्य है।[१२]

स्त्रियों की दशा सुधारे बिना जगत् के कल्याण की कोई सम्भावना नहीं है। पक्षी के लिये एक पंख से उड़ना सम्भव नहीं है। इसीलिये रामकृष्ण-अवतार में 'स्त्री-गुरु' को ग्रहण किया गया है, इसीलिये उन्होंने स्त्री-वेश तथा स्त्री-भाव* में साधना की और इसी कारण उन्होंने नारियों के मातृ-भाव में जगदम्बा के रूप का दर्शन करने का उपदेश दिया।

अत: मेरा पहला प्रयत्न स्त्रियों का मठ स्थापित करने का है। इस मठ से गार्गी और मैत्रेयी और उनसे भी अधिक योग्यता रखनेवाली स्त्रियों की उत्पत्ति होगी।[१३]

❖ (क्रमश:) ❖

सन्दर्भ-सूची –

३२. विवेकानन्द साहित्य, (संस्करण १९८९) खण्ड ६, पृ. ४०; **३३**. खण्ड ६, पृ. १८६; **३४**. वही, खण्ड १०, पृ. १६७-६८; **३५**. वही, खण्ड ४, पृ. ३९१; **३६**. वही, खण्ड १०, पृ. ४२;
नारी-शक्ति और उसका जागरण – १. वही, खण्ड ९, पृ. २२८; **२**. वही, खण्ड १, पृ. ३११; **३**. वही, खण्ड १०, पृ. ३६३; **४**. वही, खण्ड १०, पृ. ३६३; **५**. वही, खण्ड १०, पृ. २१६; **६**. वही, खण्ड ४, पृ. ३२३; **७**. वही, खण्ड २, पृ. ३१५; **८**. वही, खण्ड २, पृ. ३६१; **९**. वही, खण्ड ६, पृ. १८१; **१०**. वही, खण्ड ३, पृ. ३०९; **११**. वही, खण्ड २, पृ. ३१६; **१२**. वही, खण्ड ७, पृ. २५७; **१३**. वही, खण्ड ४, पृ. ३१७

* श्रीरामकृष्ण ने अपने मन से पुरुष-नारी का भेद दूर करने हेतु, कुछ काल के लिये नारियों का वेश धारण करके स्वयं को एक नारी मानते हुए साधना की थी।
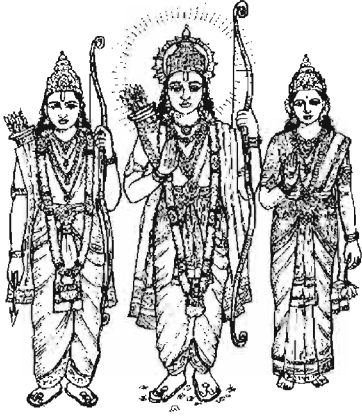
अवतार-रहस्य (१/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(१९९१ ई. के अप्रैल-मई में रामकृष्ण आश्रम, राजकोट के तत्त्वावधान में पण्डितजी के जो प्रवचन हुए थे, 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ टेप से इन्हें लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य किया है श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने।

अवतारों को लेकर कभी-कभी लोगों का अपना आग्रह होता है जैसा कि स्वामीजी महाराज ने बताया कि हैदराबाद में किसी भक्त ने यह कहा कि हम तो श्रीरामकृष्ण को अवतार नहीं मानते। उन्होंने किस राक्षस का वध किया? उनकी पूजा इस रूप में क्यों की जानी चाहिये? तो स्वामीजी महाराज ने बड़ा ही भावपूर्ण विवेचन किया। यदि हम अवतार-तत्त्व को ठीक-ठीक समझ लें, अवतार के उद्देश्य को समझ लें, तो भगवान श्रीरामकृष्ण के अवतारत्व को लेकर कोई सन्देह नहीं रहेगा। गोस्वामीजी ने 'मानस' के प्रारम्भ में ही इस प्रश्न पर विचार किया है। पार्वतीजी भगवान शंकर से प्रश्न करती हैं कि ईश्वर का अवतार क्यों होता है? निर्गुण-निराकार ब्रह्म धरती पर अवतरित होकर मनुष्य शरीर धारण करे, इसकी क्या आवश्यकता है? शंकरजी ने एक वाक्य कहा, और वह वाक्य बड़े ही महत्त्व का है। वे बोले – पार्वती, वस्तुत: इस विषय में दावे के साथ कुछ कह पाना सम्भव नहीं है कि भगवान अवतार क्यों लेते हैं –

हरि अवतार हेतु जेहि होई ।
इदमित्थं कहि जाइ न सोई ।। १/१२१/२

परन्तु इसके बाद उन्होंने अवतार के कारणों का विश्लेषण किया। वहाँ अवतारवाद की व्याख्या की गई है और श्रीमद् भागवत में भी भगवान के अनेक अवतारों की कथा है। कहीं उनकी संख्या दस बताई गई है, तो कहीं चौबीस। इससे स्वभावत: व्यक्ति को लगता है कि इसके अतिरिक्त कोई हो, तो वह अवतार नहीं होगा। पर जिन्होंने श्रीमद् भागवत का अध्ययन किया होगा, वे जानते होंगे, उसी में घोषित किया गया कि जिन अवतारों का यहाँ वर्णन किया जा रहा है, वस्तुत: उनकी संख्या इतनी ही नहीं है, बल्कि – **अवतारा ह्यसंख्येया** – अवतार असंख्य हैं और युग की आवश्यकता के अनुकूल भगवान अवतरित होते हैं। उस व्यक्ति के मन में प्रश्न था कि भगवान ने यदि श्रीरामकृष्ण के रूप में अवतार लिया, तो उन्होंने किसका वध किया? इस सन्दर्भ में कभी-कभी मेरे सामने भी यह बात आती है, लोग बार-बार कहते हैं कि गीता में भगवान ने कहा है और रामायण में यह भी कहा कि अवतार के कारण के सम्बन्ध में दावा करना सम्भव नहीं है और वहाँ ठीक गीता का ही वाक्य दुहराया गया है –

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानम् अधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ।। ४/७-८

– "हे अर्जुन, जब-जब जगत् से धर्म का लोप और अधर्म का प्राबल्य होने लगता है, तब-तब मैं जन्म लेता हूँ। भले लोगों की रक्षा तथा दुष्टों का विनाश करके धर्म की स्थापना करने के लिए मैं प्रत्येक युग में आविर्भूत होता हूँ।"

और मानस में भी यही लिखा है –

जब जब होइ धरम कै हानी ।
बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी ।।
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी ।
सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी ।।
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा ।
हरहि कृपानिधि सज्जन पीरा ।। १/१२१/६-८

एक प्रश्न बार-बार सुनने को मिलता है। सुन लेता हूँ, पर एक बार मुझसे नहीं रहा गया। एक सज्जन बोले – "गीता में भगवान कहते हैं कि मैं धर्म की रक्षा के लिये आता हूँ। इतना अधर्म हो रहा है, पर वे अवतार लेकर क्यों नहीं आ रहे हैं?" इस पर मैंने थोड़ा व्यंग्य भरे स्वर में पूछा – "गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने जिन शब्दों में अवतार ग्रहण करने का आश्वासन दिया है, उस रूप में उनके अवतरित होने के लिये आप इतने उत्सुक क्यों हैं? भगवान ने तो यही कहा है कि अवतरित होकर मैं साधुओं की रक्षा और दुष्टों का वध करता हूँ। तो आप मुझे यह बता दीजिये कि आप स्वयं को किस श्रेणी में मानते हैं? यदि वे श्रीकृष्ण के रूप में वध करने के लिये आ जाते, तो क्या आप उनसे बच पाते? अत: आपको तो प्रसन्नता होनी चाहिये। भगवान श्रीरामकृष्ण ने अवतार लेकर यदि किसी का वध नहीं किया, तो बड़ा अच्छा हुआ, बहुत बड़ी संख्या में लोग बचे हुये हैं। यदि वे सचमुच ही श्रीकृष्ण की तरह वध पर ही तुल जाते, तो...?

अलग-अलग अवतारों की अलग-अलग भूमिका होती है। ऐसा नहीं है कि सभी अवतारों में भगवान ने शस्त्र ग्रहण किया हो या वध किया हो। हम कपिल और बुद्ध को भी अवतार मानते हैं। चौबीस अवतारों में इनकी भी गणना है।

परन्तु इनमें से किसी ने किसी राक्षस का वध किया हो, ऐसा नहीं दिखता। **अवतारा ह्यसंख्येया:** – अवतार असंख्य हैं। इसे दृष्टान्त के रूप में कहें, वैसे कोई भी दृष्टान्त तो पूरी तरह सार्थक नहीं हो सकता, आपके सामने ये अनेक यंत्र हैं, एक यंत्र वह है, जिसके द्वारा शब्द आप तक पहुँच रहा है और एक यंत्र वह है, जिसके माध्यम से हवा चल रही है। एक यंत्र वह है, जिसके माध्यम से आप गर्मी पा लेते हैं और एक यंत्र वह है, जिसके माध्यम से आप शीतलता पा लेते हैं। साधारण दृष्टि से देखें, तो ऐसा लगता है कि इन यंत्रों में भिन्नता है, परन्तु भिन्नता के बावजूद गहराई से जाननेवाला व्यक्ति जानता है कि ये यंत्र जिस माध्यम से चल रहे हैं, वह तो विद्युत्-शक्ति ही है। आवश्यकता तो उसी विद्युत्-शक्ति की होती है। जब हमें गर्मी की आवश्यकता होती है तो उसी विद्युत्-शक्ति को हम ऐसे यंत्र से जोड़ देते हैं, जिसके द्वारा हमें ऊष्मा का अनुभव होता है। यदि हमें गर्मी लगती है और शीतलता की आवश्यकता होती है, तो उसी विद्युत्-शक्ति को हम ऐसे यंत्र से जोड़ देते हैं कि उसी विद्युत्-शक्ति से हमें शीतलता की अनुभूति होने लगती है। उसी के द्वारा आवश्यकता के अनुसार ध्वनि को विस्तृत किया जा रहा है। अनगिनत रूपों में उसका उपयोग होता है।

अवतार के सन्दर्भ में भी ठीक इसी प्रकार प्रत्येक युग की अपनी आवश्यकता होती है। जिस युग या व्यक्ति-विशेष की जैसी आवश्यकता होती है, हम अपनी भावना को जिस यंत्र से जोड़ देते हैं, हमें जैसी अपेक्षा होती है, जैसी आवश्यकता का अनुभव होता है, वह एक ब्रह्मतत्व ईश्वर उसी दृष्टि से, उसी रूप में अवतरित होता है। किसी अवतार में आपको संहार की भी विशेषता दिखाई देगी। भगवान के एक अवतार का परशुरामजी के रूप में वर्णन किया गया, जिन्होंने संहार की भूमिका स्वीकार की। यह आवश्यक नहीं कि हर अवतार एक ही भूमिका को स्वीकार करे। इसी कारण इन रूपों में स्वाभाविक रूप से अन्तर होता है।

इस अन्तर को यदि हम ठीक-ठाक समझ लें, तो हमारे मन में इस तरह का कुतर्क या संशय नहीं आयेगा, जैसा कि हैदराबाद के उन शंकालु व्यक्ति के मन में आया था। इन अवतारों के सन्दर्भ में भगवान श्रीरामकृष्ण के 'लीला-प्रसंग' ग्रन्थ में यह बात आती है। उन्होंने कई बार यह स्पष्ट किया कि जो श्रीराम के रूप में और श्रीकृष्ण के रूप में अवतरित हुए थे, वे ही इस शरीर में श्रीरामकृष्ण के रूप में प्रकट हुए हैं। इस सन्दर्भ में हम घटनाओं की तुलना करने नहीं जा रहे हैं। वह भी एक पक्ष हो सकता है कि किस प्रकार 'मानस' में भक्ति, ज्ञान, योग आदि की विविध रूपों में व्याख्या की गई है और किस प्रकार श्रीरामकृष्ण के चरित्र में भी वे ही तत्त्व देखने को मिलते हैं। परन्तु इस श्रीरामकृष्ण-अवतार की विलक्षणता उनके इस रूप में है कि उन्होंने एक वैचारिक बुराइयों के संहार हेतु अवतरण किया। फिर जिस सर्व-धर्म-सामंजस्य या सर्व-धर्म की साधनाओं को उन्होंने अपने जीवन में स्वीकार करते हुये साधना और सिद्धि के तत्त्व को प्रगट किया; यदि आप 'राम-चरित-मानस' को पढ़ें, तो भले ही शब्दावली और कहने की पद्धति में भिन्नता हो, पर ऐसा लगता है कि दोनों के विचार-तत्त्व वस्तुत: एक ही हैं।

भगवान श्रीरामकृष्ण के चरित्र के सन्दर्भ में, प्रारम्भ में ही यह आता है कि वे महामाया आद्याशक्ति भगवती काली के मन्दिर में पूजा का कार्य प्रारम्भ करते हैं। मूर्तिपूजा से ही उनकी साधना का क्रम शुरू होता है। उनके द्वारा यह पूजन बड़े महत्त्व की बात है। कई लोगों को यह भ्रम हो जाता है कि मूर्तिपूजा साधारण व्यक्तियों के लिये है और जो व्यक्ति उच्च कोटि का है, उसे मूर्तिपूजा की आवश्यकता नहीं।

यह तो ठीक है कि मूर्तिपूजा साधारण से साधारण व्यक्ति कर सकता है, परन्तु इन अवतारों में – चाहे भगवान राम के अवतार में या श्रीकृष्ण के अवतार में, अथवा श्रीरामकृष्ण के अवतार में, आपको एक अद्भुत सूत्र देखने को मिलेगा।

रामायण में हम पढ़ते हैं कि सीताजी पुष्पवाटिका में जाती हैं और वहाँ श्रीराम का दर्शन करती हैं। इसके बाद वे भगवती पार्वती के मन्दिर में जाती हैं। मन्दिर में तो मूर्ति ही है। किशोरीजी वहाँ मानवीय रूप में दिखाई देती हैं और उनके सामने पार्वतीजी चैतन्य व्यक्ति के रूप में नहीं, बल्कि मूर्ति के रूप में है। सीताजी उनका पूजन करती हैं और उसके बाद स्तुति करती हैं। भगवान राम भी लंका-युद्ध के पूर्व भगवान शंकर की मूर्ति की स्थापना और पूजन करते हैं।

आपने श्रीमदभागवत में पढ़ा और सुना होगा कि भगवान ने जब ब्रज में श्रीकृष्ण के रूप में अवतार ग्रहण किया था, तो वहाँ के सब निवासी प्रतिवर्ष इन्द्र की पूजा करते थे। वहाँ एक बड़ी सांकेतिक कथा आती है कि भगवान श्रीकृष्ण ने इन्द्र की पूजा बन्द करा दी और उसके पक्ष में उन्होंने जो बात कही, वह बड़ी विचित्र थी। उन्होंने कहा – "इन्द्र की क्यों पूजा करते हो? उसकी क्या आवश्यकता है? हम क्यों न गोवर्धन पर्वत की पूजा करें!" यह बड़ी विचित्र बात थी। उस छोटी अवस्था में ही उन्होंने यह बात बड़े युक्तिसंगत ढंग से कही और सचमुच उन्होंने गोवर्धन की पूजा कराई। उसके बाद भगवान श्रीरामकृष्ण महाकाली की मूर्ति की पूजा करते हैं। इसके द्वारा भगवान के ये अवतार क्या बताना चाहते हैं?

ईश्वर जब मनुष्य के रूप में जन्म लेते हैं, तो यद्यपि वे यदा-कदा ईश्वरत्व का भी प्रयोग करते हुये दिखाई देते हैं; परन्तु अवतार लेने का उद्देश्य यह है कि वे मानव-जीवन की समस्याओं तथा प्रश्नों को अपने स्वयं के जीवन में स्वीकार

करके उनके समाधान का मार्ग प्रस्तुत करते हैं।

इन अवतारों द्वारा मूर्तिपूजा का क्या तात्पर्य है? जब वस्तुओं का विभाजन किया जाता है, तो यही कहकर किया जाता है कि व्यक्ति चेतन है और मूर्ति पत्थर है, जड़ है। चेतन होकर जड़ की पूजा करना, यह कैसा विवेक हुआ? अब जरा अवतारों के सन्दर्भ में विचार करके देखें। चेतन और जड़ का यह विभाजन क्या वास्तविक है? चेतन और जड़ का यह विभाजन एक स्तर पर तो सही लगता है, पर यदि उसके अन्तरंग में प्रवेश करें तो आपको स्पष्ट लगने लगेगा कि यह चेतन और जड़ का विभाजन वस्तुत: सत्य नहीं है। इसका परिचय आपको मिलता है। आप पढ़ते हैं कि सीताजी का जन्म पृथ्वी से हुआ। बड़ी सरलता से कहा जा सकता था कि महाराज जनक पिता थे और सुनैनाजी के गर्भ से सीताजी का जन्म हुआ। परन्तु उसके स्थान पर कहा गया कि महाराज जनक हल चला रहे थे, तभी पृथ्वी से सीताजी प्रगट हुईं। जिन पार्वतीजी की वे पूजा कर रही हैं, उनका भी जन्म किसी व्यक्ति से नहीं हुआ है। वे भी पर्वत की कन्या हैं, हिमालय की बेटी हैं। सीताजी का जन्म पृथ्वी से हुआ, तो पार्वतीजी का जन्म पर्वत से – पत्थर से हुआ। फिर जिन लक्ष्मीजी को पाने के लिये संसार व्यग्र है, उनका जन्म समुद्र से हुआ। इतना ही नहीं, यदि कोई आपसे पूछे कि गंगा का जन्म कहाँ से हुआ, तो आप कहेंगे कि हिमालय में गंगोत्री है, वहीं से गंगा निकली है। तो भौगोलिक रूप से यह सत्य है। लोग गंगोत्री में जाकर गंगा के उद्गम को देखते हैं। परन्तु पुराणों में बताया गया है कि गंगा का जन्म भगवान के चरणों से हुआ। हम तो देखते हैं कि गंगा का जन्म हिमालय से, गोमुख-गंगोत्री से हुआ, पर भक्तगण गाते हैं कि उनका उद्भव भगवान विष्णु के चरणों से हुआ –

जिन चरनन ते निकसी सुरसरि शंकर जटा समाई ।

यमुना का प्रादुर्भाव कहाँ हुआ। हिमालय में यमुनोत्री है, वहीं से यमुना निकली, परन्तु रामायण में तो यही कहा गया कि यमुना तो सूर्य की पुत्री हैं –

रवि तनुजा कइ करत बड़ाई ।। २/१११/२

अवतारों द्वारा जो मूर्तियों की पूजा हुई और इनका जन्म जो इस रूप में बताया गया, ये मानो इसी महान् सत्य का उद्घाटन करने के लिये ही हैं। इसके द्वारा वस्तुत: यह ज्ञात होता है कि जड़ व चेतन में मूलत: कोई भेद नहीं है।

लंका के युद्ध के पूर्व भी यह कथा आती है कि भगवान राम ने सीताजी को अग्नि में स्थापित कर दिया। बड़ी अद्भुत कथाएँ हैं। रावण-वध का संकल्प करने के बाद वे सीताजी से अनुरोध करते हैं कि आप अग्नि में निवास करें। बाद में रावण-वध के पश्चात् वर्णन आता है, भगवान ऐसी लीला करते हैं कि सीताजी अग्नि में प्रवेश करती हैं और तब उनका प्रतिबिम्ब तो विलीन हो जाता है और पहले से ही अग्नि में समाई हुई सीताजी निकलकर बाहर आ जाती हैं।

इसका मूल तात्पर्य यह था कि यदि हम केवल भौतिक आधार पर सृष्टि की व्याख्या करेंगे, तो इसकी कोई मीमांसा नहीं होगी। भौतिक विज्ञान की यह मान्यता रही है कि यह सृष्टि जड़ का विकास मात्र है। परन्तु हमारी आध्यात्मिक परम्परा कहती कि **सृष्टि जड़ का विकास नहीं, अपितु चैतन्य का विलास है ।** गोस्वामीजी ने 'विनय-पत्रिका' में इसी शब्द का प्रयोग किया गया। उन्होंने कहा कि ऊपर से देखने पर तो लगता है कि यह जड़ है और यह चेतन। ऊपर से देखने पर सचमुच ही इस सृष्टि में विकास का क्रम दिखाई देता है। एक शिशु का जन्म होता है। वह नन्हा शिशु जिस क्रम से बढ़ता है, उसमें विकास का क्रम तो दिखाई देता है। किन्तु गोस्वामीजी 'विनय-पत्रिका' में कहते हैं कि पहले बुद्धि को शुद्ध कीजिये और शुद्ध करने के बाद विचार कीजिये। उनका कथन है कि भगवान की भक्ति करने से बुद्धि शुद्ध होती है। जब आप शुद्ध बुद्धि से विचार करेंगे, तो दिखाई देगा कि सृष्टि के मूल में जो जड़ दिखाई देता है, वह भी वस्तुत: जड़ नहीं है, उसके मूल में भी चेतना विद्यमान है।

जब हम किसी वस्तु को स्पष्ट रूप से देखना चाहते हैं, तो पहले चश्मे को साफ कर लेते है और यदि हम दर्पण में देखते हैं, तो पहले दर्पण को स्वच्छ कर लेते हैं; इसी प्रकार बुद्धिमान व्यक्ति कहता है कि हम बुद्धि से विचार करते हैं और बुद्धि से ही जो बात ग्राह्य है, उसे स्वीकार करते हैं। परन्तु हमारे महापुरुष कहते हैं – "ठीक है, बुद्धि से विचार कीजिये, पर बुद्धि पर जो मलिनता छाई हुई है, पहले उसको तो दूर कर लीजिये, फिर विचार कर लीजिये। इसीलिये गोस्वामीजी कहते हैं – श्रीरघुनाथ की विमल कीर्ति का वर्णन करने के पूर्व मैं श्री गुरुदेव के चरण-कमलों के रज से अपने मनरूपी दर्पण को साफ करता हूँ –

श्रीगुरु चरन सरोज रज निज मनु मुकुरु सुधारि ।। २/१

बड़ी अनोखी बात ! यह न समझ लीजियेगा कि इस युग में भगवान श्रीरामकृष्ण के बारे में ही किसी को संशय हुआ, त्रेतायुग में भगवान राम के विषय में भी संशय उत्पन्न हुआ था। वह संशय केवल साधारण व्यक्तियों को ही नहीं हुआ, भगवान शंकर की पत्नी सतीजी को हुआ था, इसलिये इसमें कोई आश्चर्य की बात ही नहीं है। यह संशय प्रत्येक युग की समस्या है। सतीजी ने जब देखा कि श्रीराम सीताजी के लिये विलाप कर रहे हैं, तो उनके मन में संशय प्रकट हुआ।

श्रीरामकृष्ण के जीवन में भी ऐसे प्रसंग आते हैं। एक बार उनकी बाँह में बड़ी पीड़ा हो रही थी। जैसे छोटा बालक माँ को पुकारता है, वैसे ही वे जगदम्बा को पुकारते थे। जब वे दर्द से पीड़ित थे, उसी समय कलकत्ते के कुछ बड़े

विशिष्ट लोग श्रीरामकृष्ण से मिलने आने वाले थे। साधारणत: जो बड़े निकटस्थ व्यक्ति होते हैं, उनको चिन्ता रहती है कि जिनकी हम पूजा करते हैं, उनकी महिमा कम न हो जाय। वे उनकी महिमा के लिये व्यग्र होते हैं। उनके एक निकटस्थ सम्भवत: भानजे हृदय ने उनसे कहा – महाराज, देखिये, वे लोग आने वाले हैं। अब आप चुप हो जाइये। वे आपको रोते देखेंगे, तो क्या सोचेंगे। अवतार की बात ही क्या, वे तो आपको साधारण महात्मा भी नहीं समझेंगे।

दर्द में तो साधारण व्यक्ति भी रोता है। इसलिये श्रीरामकृष्ण को रोते देखकर उनको ऐसा लगना स्वाभाविक ही था। बड़ा विनोद-भरा प्रसंग है। उस समय तो उन्होंने आँसू पोंछ लिये, भानजे की बात मान ली। परन्तु जब सत्संग होने लगा, तो वे फिर रोने लगे। लोगों ने पूछा – "महाराज, क्या हुआ?" वे बोले – "क्या बताऊँ, एक तो दर्द के मारे मैं माँ को पुकार रहा हूँ और यह कोने में बैठकर मुझे इशारा कर रहा है, आँखें दिखा रहा है, देखिये न, इसको देखकर मुझे और भी रोना आ रहा है।" अब स्वाभाविक रूप से ही है कि ऐसे प्रसंग में किसको उनके अवतारत्व में सन्देह नहीं हो जायेगा? उनके निकटस्थ व्यक्ति को यही तो लगा। भगवान राम यदि सिंहासन पर बैठे होते और सारे ऋषि-मुनि-देवता पूजा कर रहे होते, तो सती शायद मान लेती कि ये ईश्वर होंगे, परन्तु वे देख रही हैं कि श्रीराम तो रो रहे हैं। केवल रो ही नहीं रहे हैं, बल्कि लता-वृक्षों से पूछ भी रहे हैं कि सीता कहाँ गई –

हे खग मृग मधुकर श्रेनी।
तुम्ह देखी सीता मृगनैनी ।।
खंजन सुक कपोत मृग मीना। ३/३०/९-१०

ऐसी व्याकुलता, ऐसा विलाप! तभी भगवान शंकर और सती वहाँ आये। वे भगवान की कथा सुनकर लौट रहे थे।

रामायण में एक बड़ा सूत्र बताया गया है कि भगवान को देखने से पहले भगवान की कथा अवश्य सुनिये। इसका अभिप्राय यह है कि घटनाएँ तो सामने होंगी, वे आपको अपनी आँखों से दिखाई देंगी, परन्तु उन घटनाओं के पीछे जो संकेत हैं, उन्हें कथावाचक ही प्रकट करता है।

सती के साथ एक समस्या थी और वही हर युग की समस्या है। आज के युग की तो वह सबसे बड़ी समस्या है। समस्या यह है कि सतीजी दक्षकुमारी हैं। दक्षकुमारी का अर्थ क्या है? दक्ष अर्थात् चतुर, दक्षकुमारी चतुर की बेटी हैं और उनका विवाह हुआ है शंकर से। शंकर कौन हैं? – मूर्तिमान विश्वास। चतुर की बेटी का विश्वास से विवाह हो जाय, तो चतुराई और विश्वास का मेल नहीं बैठता। वैसे भगवान शिव तो दक्षकुमारी को बड़ा महत्त्व देते हैं, लेकिन बुद्धिमान व्यक्ति सरलता से किसी बात को स्वीकार नहीं कर पाता। उसका कहना है कि जो बुद्धिसंगत नहीं है, उसे हम कैसे मान लें!

भगवान शंकर ने सतीजी से जब कहा कि हम कथा सुनने जा रहे हैं, तो सतीजी ने कहा कि मैं भी चलूँगी। वे कैलाश शिखर से उतरकर दण्डकारण्य में महर्षि अगस्त्य के आश्रम में गये। बड़ी सांकेतिक कथा है। भगवान शंकर के लिये यह कहा गया कि भगवान शंकर साक्षात् समुद्र हैं –

चरित सिन्धु गिरिजारमन ।। १/१०३

वे कथा सुनने किसके पास गये? कुम्भज अगस्त्य के पास। कहते हैं कि अगस्त्यजी का जन्म कुम्भ से, घड़े से हुआ था। तो घड़ा समुद्र के पास जायेगा या समुद्र घड़े के पास? बात बड़ी उल्टी-सी लगती है। पर भगवान शंकर की दृष्टि क्या है? सुनानेवाला बड़ा है या सुननेवाला? बड़े महत्त्व का प्रश्न है। साधारण दृष्टि से माना जाता है कि सुनानेवाला बड़ा और सुननेवाला छोटा है। पर प्रश्न उठता है कि सुनानेवाला स्वयं भी ऐसा मानता है क्या? यदि सुनानेवाला ऐसा मानता है, तो उसमें श्रेष्ठता का अभिमान है और यदि वह अभिमानपूर्वक कथा कहेगा, तो उसका जो संकेत होगा, जो वाणी होगी, वह शुद्ध होगी क्या? जैसे कि हमारे-आपके बीच में यह जो यंत्र (माइक) है, इसमें क्या बड़ा उत्कृष्ट प्रवचन देने की क्षमता है? पर यह कितना प्रिय है। यह बन्द हो जाय, तो हमें भी बड़ी असुविधा होगी और आपको भी। परन्तु इसकी विशेषता यही है कि यह स्वयं नहीं बोलता। वस्तुत: वक्ता जो बोलता है, यह केवल उसी को दूर तक पहुँचा देता है। यदि यह स्वयं बोलने लगे – बीच में कभी-कभी जब यह बिगड़ जाता है और बीच में ही सीटी देने लगता है तो फिर आप देखेंगे कि वक्ता भी सिर पीट रहा है और श्रोता भी। एक बहुत बढ़िया बात कही गयी है – वक्ता को मत देखो; उसकी बातों को सुनो। परन्तु उपनिषदों में एक ऐसा भी मंत्र आया है – **वक्तारम् अभिजानीयात्** – वक्ता को जानो। यह बात भी अपने स्तर पर ठीक है। पर व्यावहारिक स्तर पर तो यही ठीक है कि वक्ता को क्या देखना है? वक्ता ने जो कहा, उसे देखिये। पर जब आप तात्त्विक सीमा में प्रवेश करेंगे, तो – **वक्तारम् अभिजानीयात्** – अर्थात् कौन बोल रहा है?

यंत्र की विशेषता है कि वह बात तो पहुँचा दे रहा है, पर स्वयं नहीं बोल रहा है। यदि बोलनेवाला वक्ता सचमुच मान ले कि मैं बोल रहा हूँ, तो उसके अहंकार की सीटी बजने लगेगी। वह सोचे कि ये लोग मेरी उपस्थिति को भी समझ ले, तब तो अनर्थ ही हो जायेगा। यहाँ हमारे श्रद्धेय स्वामीजी महाराज बैठे हुये सुन रहे हैं। तो इसका अर्थ क्या मैं यह मान लूँ कि मैं इनकी अपेक्षा अधिक ज्ञानवान और श्रेष्ठ हूँ? यहाँ मुझे एक दूसरे ही प्रसंग की याद आती है।

शंकरजी ने पार्वतीजी को अपने संस्मरण सुनाते हुए कहा था कि जब सती के रूप में तुमसे वियोग हुआ, तब मैंने

सोचा कि अब कथा सुनने में ही समय बिताया जाय।

पूरे संसार में भ्रमण करता हुआ मैं सुमेरु पर्वत पर चला गया और वहाँ मैंने एक अनोखा दृश्य देखा। क्या? बोले – वटवृक्ष के नीचे एक कौवा बैठा हुआ है और हंस आदि अनेक पक्षी कथा सुन रहे हैं। देखकर बड़ा आनन्द आया। पार्वतीजी बोलीं – वे तो आपके शिष्य हैं; आप जब गये, तो वे उठकर खड़े हो गये होंगे और तब आपको कथा सुनायी होगी। उन्होंने कहा – नहीं, मैं ऐसी भूल क्यों करता? मैं भी हंस बन गया और उन हंसों के बीच बैठकर पूरे दिन रामकथा सुनता रहा। फिर जब रामकथा समाप्त हुई, तो बिना किसी से मिले, बिना परिचय किये चुपचाप चला आया –

तब कछु काल मराल तनु
धरि तहँ कीन्ह निवास ।।
सादर सुनि रघुपति गुन
पुनि आयउँ कैलास ।। ७/५७-५८

मुझे तो यही लगता है कि कौवा बोल रहा है और हंस लोग सुन रहे हैं। ये महात्मा लोग तो परमहंस हैं और जब वे सुन रहे हैं, तो यहाँ वक्ता स्वयं को क्या विशिष्ट मान लेगा? वह तो एक यंत्र है, एक माध्यम है। जिसके माध्यम से यह कथा प्रगट हुई, उसे अभिमान करने की कौन-सी बात है? इसीलिये गोस्वामीजी ने तो बड़ी मीठी बात कही। उन्होंने वाल्मीकिजी को कोकिल कहा –

वन्दे वाल्मीकि कोकिलम् ।।

वाल्मीकिजी रामायण के आदिपुरुष हैं और श्रीमद्भागवत के वक्ता हैं शुकदेव। शुक का अर्थ है तोता। कोयल की वाणी कितनी मधुर होती है, वह तो आपने सुना ही होगा। उसकी कूक कैसी विलक्षण होती है! और तोता! उसे भी जो कुछ सिखाया जाय, उसे वह मधुर स्वर में दुहरा देता है।

तुलसीदासजी से पूछा गया – वहाँ तो कोयल है, यहाँ तोता है और आप जो 'राम-चरित-मानस' दे रहे हैं, इसका आचार्य कौन है? बोले – कौवा है। कौवे को, काकभुशुण्डि को आचार्य बनाने का एक सांकेतिक अर्थ है।

कोकिल का स्वर किसे प्यारा नहीं लगता। पर सबसे अधिक कर्कश कण्ठ यदि किसी का माना जाता है और वह तो कौवा ही है। किसी ने गोस्वामीजी से पूछा – यदि कौवे को वक्ता बना दिया जाय और जब वह बोले, तो उसके कण्ठ से कैसा स्वर निकलता होगा? उन्होंने उत्तर दिया – कौवा मधुर स्वर में बोला –

मधुर बचन बोलेउ तब कागा ।। ७/६३/८

सुननेवाले को हँसी आ गई। बोला – आपके पास कोई विलक्षण कौवा है क्या? आज तक तो किसी कौवे का स्वर मधुर सुनाई नहीं पड़ा, यह आपका कौन-सा कौवा निकल आया? गोस्वामीजी ने कहा – हमारे प्रभु की कथा में यही तो विशेषता है; यह इतनी मधुर है कि इस कथा को यदि कौवा भी सुनाए, तो उसका स्वर भी मधुर हो जाता है। कौवे के स्वर की मधुरता वस्तुत: प्रभु के चरित्र की मधुरता है।

यह सूत्र बड़े महत्त्व का है। इसका सांकेतिक अर्थ यह है कि वक्ता जब तक इस सत्य को समझ ले कि वह एक यंत्र मात्र है, उसकी कोई अपनी विशेषता नहीं है।

रामायण में लिखा हुआ है कि वक्ता स्वयं अपने आपको धन्यवाद दे। कागभुशुण्डिजी ने जब कथा सुनाई तो स्वयं को धन्यवाद दिया – मैं धन्य हूँ। केवल धन्य नहीं, अति धन्य हूँ। – ओह, तो आप अपने को बहुत बड़ा मानते हो? – नहीं नहीं, ऐसी कोई बात नही हैं। – क्या? – मैं तो एक काक हूँ। पर प्रभु ने कितनी कृपा कर दी, सत्संग का ऐसा सुअवसर प्रदान किया। मुझ पर प्रभु की कितनी कृपा है, कृपा के कारण ही मैं धन्यता का अनुभव करता हूँ –

आजु धन्य मैं धन्य अति
जद्यपि सब विधि हीन।
निज जन जानि राम मोहि
सन्त समागम दीन्ह ।। ७/१२३

हमारे और समाज के जीवन में विसंगति यह है कि हम न तो देना जानते हैं और न लेना ही जानते हैं। देनेवाला देता है, तो उसके बदले में अभिमान ले लेता है और लेनेवाला लेता है, तो उसके साथ दीनता ले लेता है। दोनों घाटे में रह गये। लेने के बाद यदि दीनता-हीनता बढ़ गई, तो लेने से लाभ क्या हुआ! लिया तो जाता है अभाव को मिटाने के लिये, पर ले करके और दीनता की वृत्ति बढ़ गई, तो बेचारे ने खोया ही खोया! दूसरी ओर देनेवाले ने उदात्त धर्म – दान जैसा महान् पुण्य कार्य किया, पर उसके बदले में अभिमान जैसी वस्तु ले ली, तो उससे बढ़कर घाटे का सौदा क्या होगा? इसीलिये श्रोता जब यह अनुभव करे कि वक्ता की वाणी के द्वारा हमें धन्यता प्राप्त हो रही है और वक्ता को यह लगे कि श्रोता के माध्यम से मेरी वाणी धन्य हो रही है, तभी वक्ता और श्रोता का ऐसा संवाद लोक कल्याणकारी सिद्ध होगा। ❖ **(क्रमश:)** ❖

मन की शक्ति

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

मनुष्य का मन अनन्त शक्तियों का कोष है। सामान्य रूप से मनुष्य को मन की असीम शक्तियों का बोध नहीं हो पाता। इसका कारण यह है कि मन साधारण स्थिति में अत्यन्त चंचल हुआ करता है। मन की शक्ति का ज्ञान तब होता है जब हम उसे एकाग्र करना चाहते हैं। ज्ञान और विज्ञान के क्षेत्र का प्रत्येक आविष्कार मन की एकाग्रता की स्थिति में ही सम्पन्न हुआ है। इसीलिए जीवन के किसी भी क्षेत्र में सफलता प्राप्त करने के लिए मन की एकाग्रता पहली शर्त है। सामान्यतः जब व्यक्ति अपने मन को एकाग्र करने का आरम्भिक प्रयास करता है, तो वह पाता है कि मन पहले की अपेक्षा और अधिक चंचल हो गया है। इससे वह घबराकर ऐसा प्रयास करना ही त्याग देता है। पर यह तो मन की प्रकृति ही है। जब हम मन को एकाग्र करने का प्रयास करते हैं, तब हमें उसके वास्तविक स्वरूप की झलक मिलती है। साधारण तौर पर हमारा मन सतत विचारों के प्रवाह के समान है। कल्पना कीजिए, एक धारा बह रही है। ऊपर से हमें उसकी शक्ति का पता नहीं चलता। पर जब हम उस धारा को बाँधने का प्रयास करते हैं, तब उसकी अकल्पित शक्ति प्रकट होती है। बाँध बह जाते हैं और ऐसा लगता है कि धारा में इतनी ताकत होने की हमने कल्पना नहीं की थी। उसी प्रकार जब हम मन को एकाग्र करते हैं, तो वह मानो मन को बाँधने के समान है और इस प्रयास में मन अधिक क्षुब्ध हो उठता है। लगता है, मानो वह इतना चंचल कभी नहीं था।

कल्पना कीजिए, एक सरोवर है जिसका जल निर्मल दीखता है। पर उसके तल में इतना कीचड़ जमा हुआ है कि हम एक कंकड़ सरोवर में डालते हैं, तो उतने से ही धीरे-धीरे आसपास का पानी गँदला हो जाता है। मान लीजिए हम इस सरोवर को कीचड़ से साफ करना चाहते हैं। हमने कीचड़ निकालना शुरू किया। पानी गँदला हो जाता है। जैसे जैसे हम कीचड़ निकालते जाते हैं, वैसे-वैसे सरोवर का जल अधिकाधिक मटमैला होता जाता है। यदि हम सोचें कि इससे तो पहले ही अच्छा था जब सरोवर का जल इतना गँदला तो न था, और ऐसा सोचकर कीचड़ निकालना बन्द कर दें, तो धीरे-धीरे सरोवर का जल फिर से निर्मल तो हो जाएगा, पर उसकी निर्मलता का कोई मतलब नहीं होगा, क्योंकि एक छोटा-सा कंकड़ उसके तल के कीचड़ को ऊपर कर सकता है। पर यदि हमने जल के गँदले होने की परवाह न कर कीचड़ निकालना जारी रखा, तो एक दिन आयेगा जब सरोवर का सारा कीचड़ साफ हो जायगा और उसके बाद उसके जल को जो निर्मलता प्राप्त होगी, वह यथार्थ की होगी। क्योंकि तब सरोवर में यदि हाथी भी उतर जाये, तो भी जल गँदला नहीं होगा।

हमारा मन भी उसी सरोवर के समान है, जिसके तल में जन्म-जन्मान्तर के गन्दे संस्कार भरे हुए हैं। ऊपर ऊपर से यह निर्मल-सा लगता है, पर एक छोटा-सा दृश्य, एक तनिक-सा विचार हमारे मन के कूड़ा-कर्कट को बाहर प्रकट कर देता है। जब ध्यान आदि साधना के सहारे हम मन की इस संचित गन्दगी को दूर करने का प्रयत्न करते हैं, तो सरोवर के जल के समान मन बड़ा गन्दा दिखाई पड़ता है, क्योंकि उसमें बड़े भयानक भयानक विचार उठते रहते हैं। पर हम न डरें। यही समझें कि हम ठीक रास्ते पर हैं। जान लें कि नाली साफ हो रही है। अभ्यास को न त्याग कर, उसको और तीव्र कर दें। धीरे धीरे हम देखेंगे कि हमारा मन पहले की अपेक्षा अब काफी ठीक हो चला है।

ऐसे निर्मल मन को सहज ही एकाग्र किया जा सकता है। एकाग्र मन ठीक उसी प्रकार रहस्यों का भेदन करता है, जैसे शक्तिशाली एक्सरे की किरणें धातुओं के आवर्त को भेद जाया करती हैं। प्रकृति-राज्य के रहस्य एकाग्र मन के समक्ष सहज ही प्रकट हो जाते हैं। एकाग्र मनवाला व्यक्ति जिस वस्तु पर भी चिन्तन करता है, वह तत्काल उसके समाधान को प्राप्त कर लेता है। ऐसे मन के द्वारा यदि व्यक्ति स्वयं अपने अस्तित्व पर विचार करता है, तब उसे स्वयं को प्रच्छन्न अनन्त सम्भावनाओं का बोध सहज ही हो जाता है।

❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑

भागवत की कथाएँ (१७)

स्वामी अमलानन्द

(श्रीमद् भागवतम् पुराणों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। उसकी कथाओं ने युग-युग से मनुष्य को धर्म के प्रति आस्था-विश्वास दिया है जिससे भारतवासियों ने दृढ़ आत्म-विश्वास प्राप्त किया है। उन्हीं कथाओं में से लेखक ने कुछ का चयन करके सरल भाषा तथा संक्षेप में पुनर्लेखन किया है। 'विवेक-ज्योति' के लिये इस ग्रन्थ का सुललित अनुवाद किया है छपरा के डॉ. केदारनाथ लाभ, डी. लिट्. ने। – सं.)

दन्तवक्र-वध

हम बता आये हैं कि सनक आदि ऋषियों के शाप से नारायण के द्वारपाल जय तथा विजय ने तीन बार पृथ्वी पर जन्म लिया था। पहली बार हिरण्याक्ष तथा हिरण्यकशिपु बनकर, दूसरी बार रावण तथा कुम्भकर्ण बनकर और तीसरी बार शिशुपाल तथा दन्तवक्र के रूप में दोनों ने जन्म लिया।

रुक्मिणी के विवाह के समय शिशुपाल का मित्र शाल्व का अपमान हुआ था। इसलिए उसने प्रतिदिन मात्र एक मुट्ठी धूल खाकर तपस्या करके महादेव को प्रसन्न किया था। इसके फलस्वरूप उसने कई मायावी-विद्याएँ प्राप्त की थीं। उसने महादेव से एक वायुयान भी प्राप्त किया था। वह विमान जहाँ इच्छा हो, जा सकता था तथा विमान अनेक मायावी विद्याओं से परिपूर्ण था। उसी के द्वारा उसने माया-वसुदेव यानी नकली वसुदेव की रचना की तथा श्रीकृष्ण के सामने उसकी हत्या कर दी। श्रीकृष्ण अपने पिता की मृत्यु देखकर चिन्तित हुए, परन्तु ध्यान के द्वारा उन्होंने जान लिया कि ये मेरे पिता नहीं, बल्कि कपट रूप में रचित वसुदेव हैं। श्रीकृष्ण ने थोड़ी ही देर में उस विमान को धरती पर गिराकर शाल्व को धरती पर खींच लिया तथा अपने चक्र से उसका मस्तक काट डाला।

दन्तवक्र करुष राज्य (वर्तमान बिहार) का राजा था। वह शिशुपाल तथा शाल्व का घनिष्ठ मित्र था। शिशुपाल तथा शाल्व मारा गया देखकर दन्तवक्र अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और हाथों में गदा लेकर श्रीकृष्ण के सामने आया। दन्तवक्र ने कहा – "कृष्ण, तुम मेरे मामा के पुत्र हो; परन्तु हमारे शत्रु हो। आज मैं तुम्हारी हत्या करूँगा। यह कहकर उसने श्रीकृष्ण के सिर पर गदा से जोरों का प्रहार किया। श्रीकृष्ण ने उस प्रहार को रोक कर अपनी कौमोदकी गदा से दन्तवक्र का वक्ष विदीर्ण कर डाला।

दन्तवक्र ने रक्त-वमन करते हुए अपने प्राण त्याग दिए। शिशुपाल की भाँति दन्तवक्र के शरीर से भी एक सूक्ष्म ज्योति निकल कर श्रीकृष्ण में समा गयी।

शिशुपाल एवं दन्तवक्र के देह-त्याग के साथ-ही वैकुण्ठ -वासी जय-विजय के शापग्रस्त जीवन का अन्त हो गया।

सहपाठी श्रीदाम

श्रीदाम श्रीकृष्ण के एक सहपाठी ब्राह्मण थे। उन दोनों ने सन्दीपनी मुनि के यहाँ एक साथ अध्ययन किया था। श्रीदाम बड़े भले आदमी थे, पर इतने गरीब थे कि दो समय का खाना तक नहीं जुटता था। पत्नी के वस्त्र में सैकड़ों छिद्र थे। दोनों ही अधिकांश दिन निराहार अथवा आधा पेट खाकर ही दिन बिता देते थे। एक दिन श्रीदाम की पत्नी उन्हें भोजन के लिये कुछ भी नहीं दे सकीं। उन्होंने दु:खी मन के साथ अपने पति से कहा, "मैंने सुना है कि स्वयं लक्ष्मीपति श्रीकृष्ण आपके मित्र हैं; आप एक बार उनके पास जाइए। आपकी निर्धनता की बात सुनने पर वे निश्चय ही आपको काफी धन-सम्पदा देंगे।" श्रीदाम ने सोचा – बुरा क्या है ! और कुछ न भी हो, तो बहुत दिनों के बाद श्रीकृष्ण को देख तो सकूँगा, यह भी तो मेरे लिए परम लाभ होगा। यह सोचकर उन्होंने पत्नी से कहा, "ब्राह्मणी ! मित्र से मिलने जाऊँगा, तो साथ में ले जाने को कुछ भेंट दे दो। ब्राह्मणी ने सोचने-विचारने के बाद अपनी पुरानी साड़ी को फाड़कर उसी में चार मुट्ठी चिउड़ा बाँधकर दे दिया।

श्रीकृष्ण विशाल द्वारका पुरी में वास कर रहे थे। वहाँ चारों ओर सैनिक और सामन्त भरे पड़े थे। मैले-कुचैले वस्त्र धारण किए हुए निर्धन श्रीदाम ने बड़ी कठिनाई से अन्त:पुर में प्रवेश किया। श्रीकृष्ण वहाँ रुक्मिणी के पलंग पर लेटे थे। स्वयं रुक्मिणी सोने के चँवर से उन्हें हवा कर रही थीं। श्रीकृष्ण ने अपने मित्र को देखते ही दौड़ते हुए आकर उन्हें अपनी बाँहों में भर लिया, पलंग पर बैठाया और उनका स्वागत-सत्कार करते हुए उनका कुशल-समाचार पूछने लगे। रुक्मिणी उन्हें पंखा झल रही थीं। सभी आश्चर्य से चकित थे; एक मलिन-वस्त्रधारी निर्धन ब्राह्मण – उनका इतना सम्मान !

दोनों मित्रों में बातचीत शुरू हुई। गुरुकुल में एक दिन गुरुपत्नी के आदेश से वे दोनों रसोई की लकड़ी लाने वन में

गए थे। सूर्यास्त हो गया। आँधी-तूफान, वर्षा और अन्धकार में दोनों रास्ता भूल गये और वन में बैठे-बैठे ही सारी रात बितायी। सबेरे गुरुदेव सन्दीपनी मुनि उन्हें ढूँढ़ते हुए वहाँ आ पहुँचे थे। शिष्यों के कष्ट से अभिभूत होकर गुरुदेव ने दोनों को ढेर-सारे आशीर्वाद दिए थे। बचपन की वे ही बातें हो रही हैं। बातों का अन्त ही नहीं हो रहा है। सहसा श्रीकृष्ण ने कहा, "मित्र, जरा देखूँ, तुम मेरे लिए क्या लाए हो!"

श्रीदाम ने चिउड़े की उस पोटली को छिपाने का प्रयास किया। कहाँ द्वारकाधीश श्रीकृष्ण, लक्ष्मी जिनके श्रीचरणों की दासी हैं और कहाँ निर्धन ब्राह्मण का चिउड़ा! श्रीकृष्ण ने बलपूर्वक एक मुट्ठी चिउड़ा निकालकर अपने मुँह में डाल लिया और कहा – "मित्र यह तो अमृत है! मेरे लिए प्रेम से कोई साधारण चीज लाने पर भी मैं उसे बहुत समझता हूँ। पत्र, पुष्प, फल, जल – जो कुछ भी कोई मुझे भक्तिपूर्वक प्रदान करता है, उसे मैं प्रेमपूर्वक ग्रहण करता हूँ।"[१]

इसके बाद जब वे और भी एक मुट्ठी चिउड़ा लेकर अपने मुँह में डालने जा रहे थे, तब रुक्मिणी देवी ने उसे छीनते हुए कहा, "आप इच्छाओं की पूर्ति करनेवाले कल्पतरु हैं। इस समय भक्तों के कल्याण के लिए एक मुट्ठी ही काफी है, अधिक खाने की जरूरत नहीं।" गोविन्द ने भी मन-ही-मन सोचा – "इस गरीब ब्राह्मण ने कभी धन-दौलत की कामना नहीं की। पत्नी की इच्छा पूरी करने के लिए ही यह मेरे पास आया है। इसे मैं दुर्लभ सम्पत्ति प्रदान करूँगा।" परन्तु उन्होंने मुख से कुछ नहीं कहा। उन्होंने मित्र को अच्छी तरह भोजन कराया। श्रीदाम रात में सोने के पलंग पर सोये।

रात बीती। सुबह हुई। अब घर लौटना होगा। श्रीदाम श्रीकृष्ण से कुछ माँग नहीं सके। श्रीकृष्ण का दर्शन पाया, बस यही तो उनके लिये परम प्राप्ति थी।

यही बात सोचते हुए श्रीदाम घर की ओर लौट पड़े और अपने गाँव आ पहुँचे। परन्तु उन्हें अपना घर ही नहीं दीख पड़ा। उसके स्थान पर खड़े थे बड़े-बड़े पक्के मकान, सुन्दर सरोवर, सुन्दर वस्त्रों से आभूषित नर-नारी। यह क्या! दरिद्र की कुटिया इतनी सुन्दर कैसे हो गयी! पतिदेव आये हैं, यह सुनकर ब्राह्मणी दौड़ी आयी। उसकी आँखों से आनन्द की जलधारा बहने लगी। ब्राह्मण भी अभिभूत हो गए।

थोड़ी देर बाद उन्हें होश आया। वे समझ गये कि उनके न माँगने पर भी श्रीकृष्ण ने यह सब दिया है; ताकि वे उनकी मित्रता, सौहार्द्र्य और दास्य प्राप्त कर सकें। श्रीकृष्ण समस्त गुणों के आधार, करुणा के सागर हैं। इनके मन में इच्छा हुई कि वे हर जन्म में उनकी संगति प्राप्त कर सकें।

कुछ दिनों तक दोनों ने बड़े आनन्दपूर्वक अपने महल में वास किया। अब उन्हें कोई भी दुःख या अभाव नहीं रहा। श्रीकृष्ण के दर्शन से श्रीदाम का मोहान्धकार मिट गया था। अपनी सम्पत्ति और धन का व्यय वे दूसरों के उपकार में करने लगे। मृत्यु के बाद वे परम धाम में चले गए।

महादेव का संकट

एक बार वृकासुर ने नारद से पूछा – "कौन देवता झट प्रसन्न हो जाते हैं?" नारद ने शंकरजी का नाम लिया और बताया कि उन्हें आशुतोष भी कहते हैं। वे बड़ी आसानी से प्रसन्न हो जाते हैं। वृकासुर महादेव की आराधना करने लगा। तो भी उसे सहज ही उनका दर्शन प्राप्त नहीं हुआ। वृकासुर जब अपना मस्तक काटकर आहुति देने को प्रस्तुत हुआ, तभी यज्ञ की अग्नि से महादेव प्रकट हुए। उन्होंने कहा – "वर माँगो।" वृकासुर ने यह वरदान माँगा कि वह जिस किसी के सिर पर हाथ रखे, उसकी मृत्यु हो जाये। शंकरजी ने बड़ी अनिच्छा के बावजूद उसे यह वर प्रदान किया।

वृकासुर बहुत ही चालाक था। महादेव का वर सत्य है या नहीं, इसकी परीक्षा वह महादेव के ही सिर पर हाथ रख कर लेना चाहता था। मामला संगीन देखकर शंकरजी भय से आक्रान्त हो स्वर्ग और पृथ्वी की विभिन्न दिशाओं में भागने लगे। असुर भी उनके पीछे-पीछे दौड़ने लगा। महादेव ब्रह्मा के पास गये, परन्तु वे कुछ करने में असमर्थ हो चुपचाप बैठे रहे। तब महादेव श्वेतद्वीप की ओर दौड़े, जहाँ स्वयं श्रीहरि निवास करते हैं। सबके दुःख दूर करने का भार उन्हीं का है। श्रीहरि ने महादेव की दशा जानकर एक छोटे बालक का रूप धारण कर लिया और ऐसा भाव लेकर वृकासुर के समक्ष उपस्थित हुए मानो वे कुछ जानते ही न हों। मीठी मीठी बातें बोलकर उन्होंने वृकासुर से सारा हाल जानना चाहा। वृकासुर ने तनिक ठहरकर बालक को सब कुछ बता दिया।

इस पर बालक हँस-हँसकर महादेव का तिरस्कार करने लगा। उन्होंने कहा, "अरे! शंकर की तो बात ही मत करो, वह तो दक्ष के शाप से अब पिशाच भाव को प्राप्त हो गया है। भूत-प्रेतों को अपने साथ लिए घूमता रहता है। उसकी बात का क्या कोई विश्वास करता है? बल्कि अपने ही सिर पर हाथ रखकर देख लो न! उसकी सब बातें झूठी हैं।"

भगवान की इन बातों से वृकासुर की बुद्धि ऐसी भ्रमित हुई कि वह अपने सिर पर ही हाथ दे बैठा। तत्काल उसका सिर फटकर जीर्ण-शीर्ण हो गया। वृकासुर की मृत्यु हो जाने पर देवताओं ने आकाश से जयध्वनि की।

पुरुषोत्तम श्रीहरि ने संकट-मुक्त महादेव से कहा, "वृकासुर का अपने ही पाप से विनाश हुआ है। आप महादेव हैं। आपके प्रति अपराध करनेवाले का कभी हित नहीं हो सकता।"

❖ (क्रमशः) ❖

---

१. पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ १०/८१/४

आत्माराम के संस्मरण (७)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्दजी से उन्हें संन्यास-दीक्षा मिली थी। उन्होंने बँगला में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ प्रेरक तथा रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। अब तक हम उनके तीन ग्रन्थों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें', 'मानवता की झाँकी' एवं 'आत्माराम की आत्मकथा' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं। १९६५-६६ के दौरान उन्होंने एक बार पुन: अपने जीवन के कुछ संस्मरणों को बँगला भाषा में लिखा था। उनमें से कुछ घटनाएँ प्रकाशित हुई हैं और कुछ नयी – अप्रकाशित हैं। पूर्व-प्रकाशित घटनाएँ भी भिन्न विवरणों के साथ भिन्न रूप में लिखी गयी हैं, अत: पुनरुक्त होने पर भी रोचक, शिक्षाप्रद तथा प्रेरणादायी हैं। अनुवादक तथा सम्पादक हैं – स्वामी विदेहात्मानन्द। – सं.)

सूरत के अनुभव

संन्यासी नासिक के मार्ग पर सूरत में उतरा है। ताप्ती आदि का दर्शन करने के बाद स्टेशन की धर्मशाला में ठहरा है। बड़े हॉल जैसा कमरा है, जिसमें कई तीर्थ-यात्रियों के बीच ही रहने को जगह मिली है। कानपुर के एक ब्राह्मण दम्पति तथा उनकी युवती कन्या को भी उसी हॉल में स्थान मिला था। ब्राह्मण आकर संन्यासी के साथ बातें करने लगा। पूछा – भिक्षा हुई है या नहीं और 'नहीं हुई है' – सुनकर बोला – "हम अभी सीधा आदि लेकर आते हैं, फिर भोजन बनेगा और आपको भी भिक्षा दी जायेगी।" अपने सामान पर नजर रखने को कहकर वे सभी चले गये। थोड़ी देर बाद केवल कन्या लौटी और भोजन बनाना शुरू कर दिया।

बड़ी देर हो गयी, तो भी ब्राह्मण नहीं लौटा। बालिका ने संन्यासी से भोजन कर लेने को कहा, क्योंकि यह निश्चित नहीं था कि वे लोग कब लौटेंगे। संन्यासी का खाना हुआ, बालिका ने भी भोजन कर लिया। उसके बाद उसने तीर्थ-भ्रमण की चर्चा शुरू की और बताया कि वे लोग भी नासिक जा रहे हैं। काफी देर बाद ब्राह्मण दम्पति वापस आये।

भोजन आदि के बाद वे लोग संन्यासी के पास आये और एक साथ ही नासिक जाने का प्रस्ताव रखा। संन्यासी बोला कि उसकी यात्रा निश्चित नहीं है और वह इस प्रकार उन लोगों के साथ नहीं जा सकेगा। वह बोला – "हम लोग ही भिक्षा करके आपको खिलायेंगे। आपको चिन्ता नहीं करनी होगी। वह कन्या ही सुबह-सुबह भोजन बना देगी।" आदि, आदि। परन्तु संन्यासी ने बताया कि स्वाधीन भाव से रहना ही उसका स्वभाव है और उसका उन लोगों के साथ मेल नहीं जमेगा।

संध्या होने जा रही थी। एक गुजराती सज्जन आ पहुँचे। बहुत-सी बातें हुईं, उसके बाद काफी अनुरोध करके दूध पिलाने के लिये अपने घर ले गये। लगभग छटाक भर दूध लेकर आये और उसी में उनके स्वयं के लिये भी था। बोले – रात में दूध पीना ही उचित है। दूध नहीं पीने से उसका पेट साफ नहीं होता। दूध की अल्पता देखकर संन्यासी ने उन्हीं को वह दूध पी लेने को कहा और मन-ही-मन हँसने लगा। वे और भी एक छटाक दूध ले आये और पीने के लिये खूब आग्रह करने लगे। संन्यासी ने बाध्य होकर उसे पीया। उसके बाद मुक्ति आदि का प्रसंग चला। रात के बारह बजा दिये। उसके बाद धर्मशाले तक पहुँचाने साथ आये। वे सज्जन धर्मपरायण थे। इधर मुम्बई की ओर जानेवाली पैसेंजर गाड़ी जा चुकी थी, इसलिये रात वहीं बितानी पड़ी।

रात को दो पुलिस के लोग आये और बत्ती जलाकर सबका मुख देखने लगे कि उनमें कोई अपराधी भी है या नहीं! संन्यासी को उसी समय थोड़ी नींद आयी थी और उसने आकर आँख के सामने बत्ती जला दी। संन्यासी बत्ती की ओर ही देख रहा था। पुलिस के दो सिपाहियों में से एक बोला – "यह आदमी अन्धा है।" यह कहकर वे चले गये।

दूसरे दिन एक स्थानीय गौड़ ब्राह्मण आये और थोड़ा सत्संग करने के बाद बाजार से भोजन लाकर खिलाया। उसके बाद अपने गाँव – सच्चीन जाने के लिये आग्रह करने लगे। सच्चीन गुजरात में एक छोटा-सा राज्य है। संन्यासी राजी हुआ और वहाँ गया।*

नासिक की तीर्थयात्रा

नासिक महाराष्ट्र का एक प्रमुख तीर्थ है। राम और सीता ने लक्ष्मण के साथ यहाँ निवास किया था। यहीं पर उनका राक्षसों के साथ युद्ध भी हुआ था। यहीं पर रावण की बहन सूर्पणखा का नाक काटा गया था, जिसके फलस्वरूप सीता-हरण और अन्तत: रावण-वध सम्पन्न हुआ था।

संन्यासी उसी नासिक का दर्शन करने गया था। पंचवटी में घूमते हुए ठहरने के लिये डेरे की तलाश में वह परेशान हो गया। आखिरकार नासिकाच्छेद के स्थान के पास ही एक शिव-मन्दिर में स्थान मिला। गोदावरी नदी के तट के ऊपर ही बड़ा सुन्दर एकान्त स्थान था। मन्दिर भी हरे रंग के कठोर पत्थरों से बना हुआ, छोटा-सा परन्तु सुन्दर था।

नदी के घाट की ओर मन्दिर का बरामदा था, जिसके ऊपर छत भी होने के कारण वहाँ रहने की अच्छी जगह थी। पुजारी ने कहा – "वहाँ रह सकते हैं, परन्तु रात के नौ बजे

* द्र. मानवता की झाँकी, नागपुर, सं. २००६, पृ. २२-२५, लेख – दीवानजी ने झाड़ू लगाया।

बरामदे का दरवाजा बन्द हो जाता है और फिर भोर में साढ़े चार-पाँच बजे खुलता है। इतनी ही असुविधा होगी। बरसात का मौसम होने से बरामदे के नीचे ही जल का प्रवाह है। दरवाजा बन्द हो जाने के बाद और कहीं जाने का रास्ता नहीं है। और बोले – "यहाँ भिक्षा की व्यवस्था नहीं है।"

संन्यासी ने कहा – "भगवान की इच्छा से जुट जायेगा, आप चिन्ता मत कीजियेगा। रहने दिया, इसके लिये धन्यवाद !"

सुबह के समय पहुँचा था। स्नान आदि करने के बाद छोटा कम्बल बिछाकर बैठा हुआ है। एक ब्राह्मण स्नान करने आये। चेहरा देखकर समझ में आ गया कि वे उत्तर-भारतीय या राजस्थानी होंगे। स्नान आदि करने के बाद उन्होंने संन्यासी को 'नमो नारायणाय' किया और पूजा करने मन्दिर में चले गये। पूजा कर आने के बाद पास बैठकर पूछने लगे – "कब आना हुआ? भिक्षा की कोई व्यवस्था हुई है या नहीं?" नहीं हुई है – सुनकर बोले कि वे ग्यारह बजे बुलाने आयेंगे। वे पास ही स्थित श्रीकृष्ण मन्दिर के पुजारी तथा अन्नसत्र के व्यवस्थापक थे।

अच्छा ही हुआ। भगवान ने आज की भिक्षा की व्यवस्था करके निश्चिन्त किया। जय शंकर, जय भगवान !!

ठीक ११ बजे आकर वे बुलाकर ले गये। संन्यासी ने जाकर देखा कि वहाँ भगवान श्रीकृष्ण की सुनहरे रंग की, छोटी-सी, परन्तु सुन्दर मूर्ति है। कोई मारवाड़ी सेठ सपरिवार रहते थे। और भी चार महाराष्ट्रीय साधु बैठे हुए थे।

पत्तल लगा दिये गये। सुन्दर बासमती चावल के भात, दो प्रकार की दाल, दो प्रकार की सब्जी, बंगाल के जैसी फुल्की पूरियाँ, खीर, दही और चटनी !! सेठजी आकर सामने बैठ गये – साधुसेवा देखेंगे। वे बोले – "सब कुछ शुद्ध घी में पका हुआ है और वह घी भी उनके अपने घर का है। उनका घर जयपुर राज्य के किसी गाँव में था। बड़े यत्नपूर्वक सब कुछ बनाया हुआ था।

संन्यासी ने देखा कि अन्य साधुओं ने अपनी थैलियों से नमक-मिर्च की पुड़ियाँ निकालीं और दाल-सब्जी आदि में मिलाने लगे। सोचा, शायद वे लोग थोड़ा अधिक ही नमक-मिर्च खाते होंगे, इसीलिये स्वयं ही साथ ले आये हैं।

भोजन मुख में देने पर पता चला कि सब कुछ अलोना है, परन्तु शुद्ध घी में पका हुआ है। संन्यासी को खाने में कोई असुविधा नहीं हुई। उसने नमक नहीं माँगा। खाकर खूब तृप्ति का अनुभव हुआ। भूख भी तो खूब लगी हुई थी।

भोजन आदि हो जाने के बाद सेठ ने संन्यासी से पूछा – कब आया है? कितने दिन रहेगा? जब सुना कि उसी दिन आया है और सुविधा होने पर कुछ दिन रहने की इच्छा है, तो बोले – "आप भिक्षा के लिये हर रोज यहीं आ जाइयेगा। पुजारीजी आपको प्रतिदिन इसी समय बुला लाया करेंगे।

जय शंकर ! जय भगवान !! संन्यासी निश्चिन्त हुआ।

अगले दिन भिक्षा के लिये जाने पर देखा कि आज भी चार ही साधु हैं, परन्तु नये चेहरे हैं। स्थानीय ही प्रतीत हुए। पूछने पर ज्ञात हुआ कि प्रतिदिन पाँच साधुओं की सेवा की व्यवस्था है, परन्तु नये-नये – एक महीने बाद फिर पुराने साधुओं को भिक्षा का अवसर मिल सकता है।

उस दिन भी सेठजी सामने बैठकर यत्नपूर्वक भिक्षा दिलवा रहे थे और पिछले दिन के समान ही दो प्रकार के दाल, दो सब्जियाँ, पूरियाँ, बासमती चावल के भात, खीर, दही आदि की अद्भुत व्यवस्था थी। परन्तु भोजन में नमक नहीं था। वे साधु लोग जानते थे, क्योंकि सभी नमक-मिर्च की पुड़ियाँ निकालकर मिलाने लगे। संन्यासी ने बड़ी तृप्ति के साथ जैसा दिया था, वैसा ही खाया। सेठजी इस पर बड़े आनन्दित थे। भोजन के बाद बोले – "आप जितने दिन रहेंगे, यहीं भिक्षा करेंगे; और कहीं मत जाइयेगा।"

संन्यासी बोला – "इस अनुग्रह के लिये आपको अनेक धन्यवाद। परन्तु सेठजी, आपके इस सत्र का नियम क्या है?" बोले – "प्रतिदिन पाँच साधुओं की सेवा की व्यवस्था कर रखी है। नये आगन्तुकों को ही प्राथमिकता दी जाती है, परन्तु उनके न मिलने पर आदमी जाकर स्थानीय साधुओं को बोल आता है।" संन्यासी – "परन्तु मेरे लिये तो आपने अलग विधान किया है !" सेठजी – "भगवान को जैसा भोग दिया जाता है, आप उसी को तृप्तिपूर्वक खाते हैं। और देखते हैं न, वे लोग आकर अपना नमक-मिर्च निकालते हैं।" संन्यासी ने पूछा – "और आप लोग क्या करते हैं? भगवान का प्रसाद ही तो धारण करते हैं न?" – "निश्चय ही, परन्तु हम लोग पापी हैं, नमक-मिर्च मिलाकर खाते हैं। आप धन्य हैं कि जैसा उन्हें दिया जाता है, वही खाते हैं।"

अनेक स्थानों में नमक नहीं डालने की प्रथा है, क्योंकि उच्च वर्ण के ब्राह्मण आदि थोड़े निम्न वर्ण के लोगों का नमक नहीं खाते। उनकी ऐसी धारणा है कि नमक डालने से ही वह उच्छिष्ट जैसा हो जाता है और खाने से जाति चली जाती है। स्वामी विवेकानन्दजी ने एक संथाल आदिवासियों को भोज दिया था, जिसमें उन लोगों ने भी अपना खुद का नमक मिलाकर खाया था। कहा था – "तुम लोगों का नमक खाने से जाति चली जायेगी।"

जात-पात का मामला बड़ा ही जटिल है। भगवान को भी अलोना भोग देना पड़ रहा था। यदि नमक और तेल डालकर पकाया जाय, तो प्रसाद खाने से भी जाति चली जायेगी। घी में पके पकवानों में दोष नहीं है, उसे ब्राह्मण आदि सभी खा सकते हैं। यह पद्धति क्या अच्छी नहीं है !

संन्यासी नासिक में १२-१३ दिन रहा। उसके बाद पण्ढरपुर गया। (मूल नाम था – पुरन्दरपुर)।

पण्ढरपुर के पथ पर

संन्यासी पैदल पण्ढरपुर की ओर चला जा रहा था। हाथ खाली थे, इसीलिये सच्चा परिव्राजक हुआ था। (नौ मील चलने के बाद) एक छोटा-सा गाँव पड़ा। ब्राह्मण-प्रधान गाँव था। पहाड़ों, जंगलों के बीच सुन्दर चित्र के समान दिख रहा था। छोटी-सी पहाड़ी नदी थी। उसमें कल-कल ध्वनि के साथ स्वच्छ जल बहा जा रहा था। संन्यासी संध्या के पूर्व वहाँ पहुँचा और ग्राम से थोड़ी दूरी पर नदी की स्वच्छ बालुकाराशि के ऊपर रात्रि-यापन का आयोजन करने लगा।

राजस्थानी वणिकों की-सी पगड़ी पहने एक व्यक्ति आकर हाजिर हुए और पूछा – क्या कर रहे हैं? संन्यासी – "रात बिताने की व्यवस्था हो रही है। इस गाँव में कोई मन्दिर आदि नहीं है क्या? मुझे तो दृष्टिगोचर नहीं हुआ।" वे बोले – "हाँ, छोटा गाँव है, मन्दिर नहीं है। क्या आप गृहस्थ के घर में नहीं रहते? मेरे मकान में अलग कमरा है। यदि आपत्ति न हो, तो चलिये। सत्संग भी किया जायेगा।"

उन्होंने और कुछ कहे बिना मेरा छोटा-सा कम्बल उठाया और चल पड़े। बोले – "हिंस्र पशुओं का और साथ ही चोर-डाकुओं का भी भय है, इसीलिये लोग अकेले-दुकेले संध्या के पूर्व ही गाँव में पहुँच जाते हैं।

मकान काफी बड़ा था; भले ही मिट्टी का बना था। एक बड़ा कमरा दिया, जिसमें गद्दी और काठ का एक छोटा-सा डेस्क था। चटाई के ऊपर एक कम्बल बिछाने के बाद पूछा – "हमारा और क्या बिछाना आपको चलेगा?"

संन्यासी बोला – "इतने से ही हो जायेगा।"

पूछा – "आप रात में दूध पीते हैं क्या?"

संन्यासी – "मिलने से पी लेता हूँ।"

वणिक – "उसे गरम करके लाऊँ, या ऐसे ही चलेगा?

संन्यासी – "गरम होने से अच्छा रहेगा।"

इधर अन्धकार हो गया था, परन्तु घर में दीपक नहीं जलाया गया था।

संन्यासी ने पूछा – "क्या घर में दीपक नहीं है?"

– "है, आप कहिये तो ला देता हूँ।"

– "ले आओ। अँधेरे में कुछ समझ नहीं पा रहा हूँ।"

वे दीपक और गरम दूध ले आये। स्वयं भी दूध पीया। घर के भीतर भी रोशनी नहीं थी।

इसके बाद उन्होंने धर्मचर्चा आरम्भ की। उन्होंने काफी कुछ पढ़ रखा था, विशेषकर शिवाजी के गुरु रामदास का 'दासबोध' ग्रन्थ। उसी में अनेक प्रश्न करने लगे। आधी रात तक विविध प्रसंग चलते रहे। अच्छा लग रहा था।

सुबह प्रातःकृत्य आदि निपटाने के बाद संन्यासी नदी में स्नान कर रहा था, तभी एक ब्राह्मण आकर हाजिर हुए। बोले – "ओह ! तो आप शायद उस साहूकार के घर में ठहरे हैं ! उसके घर में बत्ती जलते देखकर ही लगा था कि कोई आया है। तो क्या उसने आपको पूछकर बत्ती जलाई थी?"

संन्यासी – "हाँ, कहने पर बत्ती जला दी थी।"

ब्राह्मण – "बस, उस बत्ती जलाने से जो भी पाप हुआ, वह सब आपके सिर गया। अच्छा, रात को उसने कुछ खाने को दिया था क्या?"

संन्यासी – "हाँ, दूध दिया था।"

ब्राह्मण – "वह ठण्डा था या गरम?"

संन्यासी – "गरम।"

ब्राह्मण – "क्या आपके कहने से गरम किया था?"

संन्यासी – "हाँ।"

ब्राह्मण – "उस गरम करने से जो पाप हुआ, वह सब आपके सिर गया।"

संन्यासी हँसते हुए बोला – "यह देखो, इस मुण्डित मस्तक पर वह सब कुछ भी नहीं ठहरेगा।"

इसके बाद हम दोनों ही खूब हँसने लगे।

ब्राह्मण बोला – "वे लोग मूलतः मारवाड़ी वणिक – जैन हैं। बड़े कट्टर जैन हैं। इसीलिये दीया-बत्ती तक नहीं जलाते। सब संध्या के पहले ही खा लेते हैं। परन्तु आदमी बड़ा सत्संगी है। कोई साधु-सन्त मिल जाने पर बड़ा आनन्दित होता है और सेवा भी करता है।"

इसके बाद वे बोले – "आज आप मेरे घर पर ही भिक्षा पाइयेगा। मैं आपको बुलाकर ले जाऊँगा, या फिर मेरा लड़का आपको बुलाने जायेगा।"

संन्यासी ने कहा – "साहूकार की अनुमति लिये बिना ऐसा सम्भव नहीं हो सकेगा।"

ब्राह्मण – "मैं उसे समझाकर अनुमति ले लूँगा।"

स्नानादि के बाद संन्यासी साहूकार के घर गया। पहुँचते ही उसने बताया कि उन ब्राह्मण ने निमंत्रित किया है। इस पर उन्हें कोई आपत्ति न थी। बोले – "साधु की जैसी मर्जी। कहीं एक जगह भिक्षा पाने से ही हुआ।"

इधर संन्यासी ने देखा कि गाँव की अनेक स्त्रियाँ स्नान आदि करने के बाद शुद्ध वस्त्र धारण करने के बाद हाथों में दो-चार (गोबर की) कंडियाँ लिये एक मकान की ओर चली जा रही हैं। पूछने पर पता चला कि वे एक अग्निहोत्री के घर अग्नि लाने जा रही हैं। प्रतिदिन सुबह स्नान आदि करके सभी

जाकर अग्नि ले आती हैं। उसके बाद अपने-अपने घर में वन्दना आदि करने में लग जाती हैं। वाह, यह कितनी सुन्दर प्रथा है। देखा, इस गाँव में अब भी वैदिक युग विद्यमान है। एक या दो कण्डी ईंधन ले जाकर जलती हुई आग ले आयेंगी। सभी महिलाएँ तीव्र गति से जा रही हैं और आग लेकर लौट रही हैं। कितना सुन्दर दृश्य है ! अपूर्व !! लगता है कि वैदिक युग की ऋषि-पत्नियाँ ऐसा ही करती थीं। आग जलाना एक कठिन कार्य था, इसीलिये ऐसी प्रथा थी और अग्निहोत्रियों का इतना सम्मान था !

गाँव छोटा था, परन्तु इसके बावजूद ब्राह्मण-प्रधान होने के कारण वहाँ स्कूल था। उन ब्राह्मण का पुत्र मुझे बुलाकर अपने घर ले गया। ब्राह्मण किसी कार्यवश बाहर गये थे। लौटने में विलम्ब होगा। लड़का दुर्बल था। स्कूल का घण्टा बजा। लड़का दौड़कर अपनी माँ के पास जाकर बोला – ''जल्दी खाने को दो। घण्टा पड़ गया है।'' माँ ने रसोईघर का काम करते-करते पूछा – ''संध्या किया है?'' (बालक की आयु ११-१२ साल की रही होगी। जनेऊ हो गया है।) बालक – ''आज समय नहीं है, जल्दी खाने को दो।'' माँ – ''नहीं, खाना नहीं दूँगी। तूने संध्या क्यों नहीं की? सुबह स्नान किया है? कहाँ गया था? क्या कर रहा था?'' बालक रुँआसा होकर बोला – ''फिर ऐसा नहीं करूँगा, आज खाने को दे दो।'' माँ – ''नहीं, नहीं दूँगी। दोपहर के अवकाश के समय आकर खाना। अभी नहीं मिलेगा। जाओ।''

संन्यासी ने इस दण्ड का उद्देश्य समझा और बालक को दुर्बल देखकर कहा – ''माँ, वह कह रहा है कि फिर ऐसा नहीं करेगा। संध्या-गायत्री यथासमय करेगा। आज दे दो।''

माँ – ''नहीं महाराज, वह ब्राह्मण का बालक है, उपवीत हुआ है। यदि वह नित्यकर्म, संध्या-वन्दना न करे, तो उसे पापग्रस्त होना पड़ेगा। मैं उसकी माँ हूँ। मुझे ही तो देखना होगा, क्योंकि उसके पिता तो विभिन्न कार्यों में व्यस्त होने से घर से अनुपस्थित रहते हैं। यह देखना मेरा ही तो कर्तव्य है न, कि उसमें ब्राह्मण के संस्कार ठीक-ठीक आयें।''

संन्यासी – ''वह कह तो रहा है कि अब से वह ठीक-ठीक करेगा ! क्यों रे, करेगा न?

बालक – ''यह देखिये माँ, वह 'हाँ' कह रहा है।''

माँ – ''नहीं, आज वह डेढ़ बजे आकर स्नान करेगा और गायत्री जप करने के बाद ही उसे भोजन मिलेगा। आज एक बहाने से नहीं किया, कल कोई दूसरे बहाने से नहीं करेगा। और देखिये मैं तो माँ हूँ, समझती हूँ कि वह बड़ा दुर्बल है, उसे कितना कष्ट होगा, परन्तु आज उसकी यही सजा है।''

किसी भी हालत में खाने को नहीं दिया। संन्यासी ने उन माँ को नमस्कार करते हुए कहा – ''धन्य हैं माँ आप ! यदि आपके समान कर्तव्य-निष्ठ महिला समस्त संस्कारी हिन्दुओं में – विशेषकर ब्राह्मण-घरों में हों, तो फिर भारत में एक बार फिर अनेक ऋषि, मुनि, महापुरुष, धर्माचार्य जन्म लेंगे। दुर्भाग्य की बात तो यह है कि अधिकांश महिलाएँ इस विषय में गम्भीर नहीं हैं। वे नहीं समझतीं कि असंस्कारी सन्तानों के कारण समाज और धर्मप्राण भारत धर्महीन प्रजाओं से परिपूर्ण होता जा रहा है !

वे साहूकार सचमुच ही बड़े धार्मिक थे। जैन सम्प्रदाय के अनुयायी होने के बावजूद उदार मत के व्यक्ति थे। समर्थ रामदास का लिखा हुआ सम्पूर्ण 'दासबोध' ग्रन्थ और इसके अतिरिक्त तुकाराम के भी हजारों अभंग अर्थात् उनके द्वारा लिखे हुए भजन उन्हें कण्ठस्थ थे। अभंग इसलिये कहते हैं कि प्रत्येक भजन के अन्त में उन्होंने स्वयं ही एक प्रश्न उठाकर परवर्ती भजन में उसका उत्तर दिया है। इन जैन मारवाड़ी साहूकार को वह सब कण्ठस्थ था।

अगले दिन रात के समय वे संन्यासी को एक अन्य ग्राम में ले गये। वहाँ अनेक भजन-मण्डलियाँ अपने-अपने झाँझ और मृदंग लेकर आयी हुई थीं। भजन की स्पर्धा होनेवाली थी। गाँववालों की खूब भीड़ थी। एक-एक टोली उठकर खड़ी होती। उनका अगुआ तुकाराम के एक भजन सुनाने के बाद यह प्रश्न करके बैठ जाता – ''जो इसका उत्तर दे सकता हो, बिना पुस्तक देखे इसका उत्तर दे।''

ये साहूकार प्रत्येक प्रश्न का उत्तर दे रहे थे। उनकी अपनी मण्डली के लोग मृदंग बजा रहे थे। रात के नौ-साढ़े नौ बजे से आरम्भ होकर यह स्पर्धा दो बजे तक चलती रही। संन्यासी तो महाराष्ट्र के इस गाँव के कवियों की लड़ाई और तुकाराम के प्रति लोगों की श्रद्धा-भक्ति देखकर विस्मय-विमुग्ध हो उठा। हर मुख में केवल तुकाराम का नाम था। बंगाल में भी रामप्रसाद, कमलाकान्त हैं। फिर चण्डीदास या विद्यासुन्दर आदि कवियों के भजन सुनने को मिलते हैं, परन्तु तुकाराम के स्तवन जैसा महाराष्ट्र के आबाल-वृद्ध-वनिता के हृदय में देखने को मिलता है, वैसा संन्यासी को अन्यत्र कहीं भी देखने को नहीं मिला।

आखिरकार साहूकार की ही विजय हुई। सबने जयध्वनि की। उसकी मण्डली के लोग उसे कन्धे पर उठाकर नाचने लगे। संन्यासी उस गाँव में तीन रात रहा।

❖ (क्रमशः) ❖

एक स्वस्थ जीवन-दर्शन : मनुष्य की परम आवश्यकता (५)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(२००६ ई. में रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सचिव स्वामी सत्यरूपानन्द जी ने सन्त गजानन अभियांत्रिकी महाविद्यालय, शेगाँव (महा.) के अनुरोध पर विद्यार्थियों के लिये 'व्यक्तित्व विकास एवं चरित्र-निर्माण' पर कार्यशाला का संचालन किया था। उस महत्वपूर्ण व्याख्यान का हिन्दी अनुवाद रायपुर आश्रम के ही ब्रह्मचारी जगदीश और सम्पादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है। – सं.)

ब्रह्माण्ड के प्रति सम्यक् दृष्टि, व्यक्ति एवं समाज के जीवन के सम्पूर्ण दृष्टिकोण को परिवर्तित कर देती है। हिन्दू इस ब्रह्माण्ड को 'संसार' कहते हैं। डॉ. राधाकृष्णन् जी के शब्दों में यह 'घटनाओं का अनवरत प्रवाह है', 'व्यक्त एवं अव्यक्त का एक सनातन प्रवाह है'। ब्रह्माण्ड के तथ्यों की तार्किक विवेचना उसके हाल ही में बनने के सिद्धान्त का समर्थन नहीं करती है। मानों एक परमात्मा आया, उसने विश्व की रचना की एवं तब से वह सो रहा है। स्वामी विवेकानन्द ने अपनी उत्कृष्ट शैली में ब्रह्माण्ड एवं उसकी अभिव्यक्ति विषयक सम्पूर्ण विचार की सुन्दर व्याख्या की है। विश्ववन्द्य स्वामीजी कहते हैं "हमारी संस्कृति के 'सृष्टि' शब्द का अँग्रेजी में ठीक से अनुवाद किया जाय, तो वह 'प्रोजेक्शन' (Projection) होना चाहिए, 'क्रियेशन' (Creation) नहीं। खेद का विषय है कि अँग्रेजी में (Creation) शब्द का अर्थ है – असत् से सत् की उत्पत्ति – अभाव से भाव वस्तु का उद्भव – शून्य से संसार का उदय – यह एक भयंकर और अयौक्तिक मत है। ऐसी बात मान लेने को कहकर मैं तुम लोगों की बुद्धि का अपमान नहीं करना चाहता।"

एक अन्य स्थान पर स्वामी जी निष्कर्ष देते हुए कहते हैं – "इस प्रकार हम देखते हैं सृष्टि का यह अर्थ नहीं कि अभाव से भाव की रचना हुई है। अधिक उपयुक्त शब्द का व्यवहार करें तो हम कहेंगे कि अभिव्यक्ति हो रही है और ईश्वर विश्व को अभिव्यक्त करनेवाला अभिव्यंजक है।"[२०]

यह ब्रह्माण्ड किसी अप्रकाशित एवं अचेतन निष्क्रिय जड़ पदार्थ से उत्पन्न नहीं है। यह निष्क्रिय जड़ पदार्थ एवं अन्ध ऊर्जा की क्रिया-प्रतिक्रिया नहीं है। हजारों वर्षों पूर्व पुरातन वैदिक ऋषियों ने ब्रह्माण्ड के रहस्यों की खोज-बीन की एवं उसका हल ढूँढ निकाला। मुण्डक उपनिषद् इस ब्रह्माण्ड की अभिव्यक्ति की व्याख्या को मकड़ी की उपमा देकर स्पष्ट करता है – "जिस प्रकार मकड़ी जाल को उगलती एवं निगल लेती है, पृथ्वी पर वनस्पतियाँ उगती हैं, अनायास ही मनुष्यों के सिर एवं शरीर पर बाल उगते हैं, उसी प्रकार अव्यय तत्त्व से इस ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति होती है।"[२१]

ब्रह्माण्ड परमात्मा से प्रक्षिप्त हुआ है तथा जैसा कि हिन्दुओं का कथन है, वह पुन: उन्हीं में लय को प्राप्त होता है; उस काल तक के लिए जबकि वह अव्यक्त अवस्था में रहता है।

हमने देखा कि हर अभिव्यक्त वस्तु के पार्श्व में एक कारण विद्यमान होता है। स्वामी विवेकानन्द हमसे कहते हैं "ईश्वर विश्व की सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय का कारण है। अत: कार्य की निष्पत्ति के लिए कारण विद्यमान होना अनिवार्य है।"[२२]

वे आगे स्पष्ट करते हैं, "इसका अर्थ है कि यदि ईश्वर सृष्टि का कारण है और सृष्टि कार्य है, तो ईश्वर ही सृष्टि बन गया है।"[२३]

इस तरह यह स्पष्ट होता है कि ब्रह्माण्ड कोई निष्क्रिय जड़ पदार्थ नहीं है एवं न ही उसकी उत्पत्ति किसी काल विशेष में किसी खगोलीय दुर्घटना के फलस्वरूप हुई है। अज्ञानियों के मत में परमात्मा इन्द्रियों से गोचर होता है, जबकि बुद्धिमान, विचारशील एवं अनुभव-सम्पन्न व्यक्ति इस अभिव्यक्त ब्रह्माण्ड में केवल परमात्मा को ही ओत-प्रोत रूप से देखा करते हैं।

स्वस्थ जीवन-दर्शन

जीवन में वास्तविक संतोष-प्राप्ति के लिए हमारे जीवन का एक स्वस्थ एवं निर्दोष दर्शन होना अनिवार्य है। अन्यथा, जीवन नीरस एवं निस्सार हो जायेगा। जब हम शरीर-मन की समस्याओं पर विचार कर रहे थे, तब हमने देखा कि जब हम जीवन के उद्देश्यों एवं प्राथमिकताओं के प्रति सावधान नहीं होते हैं, अपने मन में पोषण पा रहे विचारों के प्रति सचेत नहीं होते हैं, संसार एवं संसार में अपने स्थान के विषय में हमारी धारणा स्पष्ट नहीं होती है, परमात्मा के सम्बन्ध में एवं सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यह कि जब हम स्वयं अपने विषय में निश्चयी नहीं होते हैं, तब किस प्रकार मन हमारे शरीर एवं व्यवहार को प्रभावित करता है। तब हमारे मन में अस्थिर, अव्यवस्थित एवं मतिभ्रम करने वाले विचार अपना स्थान बना लेते हैं तथा हम भ्रान्त जीवन दर्शन के जाल में उलझ जाते हैं। इस भ्रान्त जीवन-दर्शन के महाजाल से बच निकलने का एकमात्र उपाय है कि हमारे जीवन का एक सुविचारित, स्वस्थ एवं निर्दोष दर्शन हो।

कोई भी दर्शन जो ऐन्द्रिक तथ्यों पर आधारित हो तथा मात्र पदार्थ एवं भौतिक संसार की ही पहचान रखता हो एवं मात्र उन्हें ही महत्त्व प्रदान करता हो, वह मानव मन को दीर्घकाल तक सन्तुष्ट नहीं कर सकता। अत: वह दर्शन एक निर्दोष जीवन-दर्शन नहीं हो सकता। केवल इतना ही नहीं जीवन एवं जगत के प्रति भौतिकतावादी दृष्टिकोण मनुष्य को प्रेयवाद या

सुखवाद की ओर अग्रसर करता है, तब इन्द्रिय-सुख ही जीवन का एकमात्र उद्देश्य हो जाता है तथा उसी की प्राथमिकता हो जाती है एवं यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि जीवन के प्रति ऐसे दृष्टिकोण का क्या परिणाम हुआ करता है।

यद्यपि हमने स्वयं सत्य की अनुभूति नहीं की हो, किन्तु सन्त-महात्माओं की अमृतवाणी एवं विश्व के समस्त महापुरुषों का कथन है कि पदार्थ ही सर्वस्व नहीं है। इस पदार्थ के पार्श्व में एक आध्यात्मिक तत्त्व है तथा वही जीवन एवं अस्तित्व का यथार्थ स्रोत है। जीवन का उद्देश्य है कि इस तत्त्व की पहचान एवं अनुभूति की जाय। हमें इस उद्देश्य को स्वीकार करना चाहिए, जो कि हमारे निर्दोष एवं स्वस्थ जीवन-दर्शन के लिए आधार-स्वरूप होगा।

तदुपरान्त हमें इस बात पर विश्वास करना चाहिए कि मन, पदार्थ पर प्रभुत्व रखता है। मनुष्य न तो मन है और न ही पदार्थ। मनुष्य एक आध्यात्मिक सत्ता है, जो शरीर एवं मन दोनों पर नियंत्रण एवं विजय प्राप्त करने की तथा उन दोनों की बेड़ियों से स्वयं को मुक्त करने की असीम शक्ति से सम्पन्न है।

हमें स्मरण रखना चाहिए कि जैसे अपने सहज वृत्तिक, नैसर्गिक सुखों की खोज हमारे लिए स्वाभाविक है, ठीक वैसे ही उच्चतर सन्तोष एवं आनन्द की खोज भी स्वाभाविक है। अत: यह जगत एक सुखोद्यान मात्र नहीं है, अपितु पूजा एवं आराधना का स्थान भी है, जहाँ हमें अपनी निम्न वृत्तियों पर विजय प्राप्त कर, अपने वास्तविक आध्यात्मिक स्वरूप की, मृत्यु से पूर्व अनुभूति करने का प्रयत्न करना चाहिए।

विश्व के महान् आचार्यों का कथन है कि जब व्यक्ति एवं ब्रह्माण्ड से उनके नाम एवं रूप को पृथक कर लिया जाता है, तब दोनों के ही पार्श्व में एक ही आध्यात्मिक तत्त्व शेष रहता है, जो अद्वितीय है। हम सभी यह जानते हैं कि चेतना में बहुलता नहीं हो सकती तथा यह आध्यात्मिक तत्त्व स्वयं चेतना ही है।

हमें इस विश्वास के साथ कार्य में प्रवृत्त होना चाहिए कि जो चेतन आत्मा मुझमें है, वह सर्वव्याप्त भी है। अत: समस्त ब्रह्माण्ड मुझमें सन्निहित है तथा मैं समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त हूँ। इस तरह शाश्वत सन्तुष्टि की प्राप्ति का एकमात्र उपाय है कि हम ब्रह्माण्ड के आयामों के अनुरूप अपने हृदय का विस्तार करें।

शारीरिक मृत्यु से हमारे अस्तित्व का अन्त नहीं होता, अपनी शारीरिक मृत्यु के बाद भी हमारी सत्ता विद्यमान रहती है। हिन्दू दार्शनिकों का कथन है कि हमारा एक सूक्ष्म शरीर होता है। 'विवेक चूड़ामणि' ग्रन्थ में श्री शंकराचार्य जी कहते हैं – "वागादि पाँच कर्मेन्द्रियाँ, श्रवणादि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, प्राणादि पाँच प्राण, आकाशादि पाँच महाभूत, बुद्धि आदि अन्त:करण-चतुष्टय, अविद्या, इच्छा एवं कर्म – ये पुर्यष्टक (पुरि अष्टक = आठ वास-स्थान) ही सूक्ष्म शरीर का निर्माण करते हैं।"[२४]

भौतिक शरीर की मृत्यु के साथ ही सूक्ष्म शरीर की मृत्यु नहीं होती है। वह जन्म-जन्मान्तरों तक जीर्ण शरीरों को त्याग कर व्यक्ति विशेष के कर्मों के अनुरूप नया शरीर ग्रहण करता है। सूक्ष्म शरीर केवल ज्ञानाग्नि से ही भस्मीभूत किया जा सकता है। जब मनुष्य अपने वास्तविक स्वभाव का अनुभव कर लेता है, तब ज्ञान का उदय होता है और यह ज्ञान की प्रचण्ड अग्नि उसके सूक्ष्म शरीर को भस्म कर देती है तथा मनुष्य मुक्त हो जाता है।

यह अनेक जन्मों तक चलनेवाली एक दीर्घकालीन प्रक्रिया है। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि हमारे पूर्वजन्मों के जो भी संस्कार, जो हमारे चित्त या मन में संचित हैं, इन्हें हमारा सूक्ष्म शरीर अपने साथ ले जाता है, वहन करता है। आधुनिक शब्दावली में कहें तो यह पूर्व जन्मों के असंख्य संस्कारों का पुंज व्यक्ति का अवचेतन मन है। मन का यह अंश (अवचेतन मन) हमारे चरित्र को अत्यधिक प्रभावित करता है। किन्तु जैसा हमने देखा है, मनुष्य मन नहीं अपितु मन का नियन्त्रणकर्ता है। मनुष्य में अनन्त शक्ति अन्तर्निहित है, जिसकी सहायता से वह अपने अवचेतन मन को परिवर्तित कर अपने इच्छानुकूल साँचे में स्वयं के चरित्र को ढाल सकता है।

जीवन का सम्यक दर्शन इस बात का स्मरण रखने का हमसे आग्रह करता है कि हमारा वर्तमान हमारे गत जन्मों के विचारों एवं कर्मों का परिणाम है। इस तथ्य का आश्रय लेकर हमें अपने चरित्र एवं व्यक्तित्व का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व अपने कन्धों पर लेना चाहिए एवं इस दर्शन के ठोस धरातल पर अपने चरित्र-भवन का निर्माण करने का प्रयत्न करना चाहिए।

आज जबकि हम जीवन के चौराहे पर सम्भ्रमित एवं किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर खड़े हैं, हमें नहीं मालूम कि विज्ञान एवं तकनीकि के विकास से प्राप्त अपार शक्ति का क्या किया जाय! आधुनिक मनुष्य अपने ही दरिद्र एवं दुर्बल भाइयों का इस शक्ति की सहायता से दोहन करने में लगा है तथा वह सभ्यता को लगभग विनष्ट कर अपनी जाति के संहार के लिये उतावला हो उठा है, तब यही वह समय है जबकि हम इन विघटनकारी गतिविधियों को प्रयत्नपूर्वक रोककर, स्वस्थ मानसिकता के साथ इस जीवनदायी सम्यक् दर्शन को स्वीकार करें!

❖ **(समाप्त)** ❖

सन्दर्भ-सूची –

१९. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड-५, पृष्ठ-२२-२३, सप्तम् पुनर्मुद्रण जनवरी, २००४

२०. सन्दर्भ क्रमांक १७, पृष्ठ-८७

२१. मुण्डक उपनिषद्, १.१.७ २२. सन्दर्भ क्रमांक १७, पृष्ठ-८९

२३. सन्दर्भ क्रमांक १७, पृष्ठ-८९ २४. विवेक चूड़ामणि, ९८

खेतड़ी में अखण्डानन्दजी का कार्य

स्वामी विदेहात्मानन्द

(१८९१ ई. में स्वामी विवेकानन्द ने उत्तरी-पश्चिमी भारत का भ्रमण करते हुए राजस्थान में भी काफी काल बिताया था। तब वे वहाँ के अनेक लोगों – विशेषकर खेतड़ी-नरेश अजीत सिंह के घनिष्ठ सम्पर्क में आये। तदुपरान्त वे कन्याकुमारी तथा मद्रास होकर पुन: खेतड़ी आये। मुंशी जगमोहन लाल ने उनके साथ मुम्बई जाकर उन्हें अमेरिका के लिये विदा किया। यात्रा के दौरान उन्होंने राजा को कई पत्र लिखे। उनके पूरे जीवन व कार्य में राजपुताना तथा खेतड़ी-नरेश का क्या स्थान रहा – क्रमश: इन सभी विषयों पर सविस्तार चर्चा होगी। – सं.)

निर्धन बालकों की शिक्षा

अखण्डानन्दजी खेतड़ी लौटकर अमेरिका से प्राप्त स्वामी विवेकानन्द के पत्र में प्राप्त निर्देशानुसार कार्य में जुट गये। अपनी 'स्मृतिकथा' में वे लिखते हैं – "प्रथमत:, राजा का एक एंट्रैंस स्कूल था, जिसमें केवल ८० छात्र थे। मैं राजधानी खेतड़ी के सामान्य गृहस्थों तथा दीन-दुखियों के घर जा-जाकर बच्चे माँगने लगा। पढ़ाई-लिखाई का कभी नाम तक न सुननेवाले अति निर्धन गृहस्थ भी अपने बच्चे देने लगे। परन्तु एक लड़का घर में रहे बिना जिनकी गृहस्थी नहीं चलती थी, ऐसे लोगों में से जिसके चार बच्चे थे उसने तीन दिये, जिसके तीन थे उसने दो दिये। इस तरह स्कूल में २०० छात्र एकत्र हो गये।

"खेतड़ी में दासों के करीब ५०० परिवार थे। राजपुताना में इन्हें गोला या चेला कहते हैं। काफी काल से यह प्रथा प्रचलित है। गोला कन्याएँ राजा के अन्त:पुर की दासी, सखी एवं बीच-बीच में कोई सुन्दरी चेली राजा के नजरों में आ जाने पर खोवायस (पटरानी के नीचे की रानी) के रूप में स्वीकृत हो जाती है। ऐसे विवाह से जो सन्तान होती है, उसे दो-एक आने सम्पत्ति भी मिल जाती है। राज-कन्या के विवाह के समय उसके साथ दहेज के रूप में ऐसी ही चार-पाँच अविवाहित चेलियाँ भी दी जाती हैं। राजकन्या के ससुराल के चेलों के साथ इन चेलियों का विवाह होता है।

"ये गोला बालक राजभवन के अफसर, मोसाहेब, अतिथि, अभ्यागतों की सेवा करते हैं। ये लोग देखने में काफी सुन्दर, परन्तु पूर्णत: अशिक्षित होते हैं। मैंने देखा कि ये लोग शिक्षा पाने के उपयुक्त पात्र हैं, परन्तु उन्हें विद्यालय में कैसे भेजा जाय? इसके लिये पहले राजा को राजी करना होगा और इसके लिये अवसर देखकर प्रस्ताव रखना होगा।

"देखते-ही-देखते रक्षा-बन्धन का दिन आ पहुँचा। राजपुताना में रक्षा-बन्धन एक अपूर्व पर्व है। इस दिन सभी लोग अपने पितरों का श्राद्ध-तर्पण करते हैं और ब्राह्मणों को भोजन कराते हैं। उस दिन ऊँच-नीच का भेद नहीं रहता। सात रुपये वेतन पानेवाला दरवान और राजा आपस में परम आनन्दपूर्वक रक्षा-बन्धन करते हैं और राजा की जाति का हो, तो एक ही रोटी में से तोड़कर खाते हैं।[१]

"खेतड़ी के एक सुन्दर सरोवर (पन्ना तालाब) के किनारे महा समारोह के साथ यह उत्सव सम्पन्न होता है। इस पुण्य दिवस पर सुयोग देखकर मैंने राजा साहब से कहा, 'महाराज, आपके ये गोला बालक शिक्षित हो जाने से क्या और भी उपयोगी नहीं होंगे?' यह बात मैंने राजा को भलीभाँति समझा दी। राजा ने इसे स्वीकार किया और बोले, 'पता लगाइये कि मेरे गोला बालकों में कितने शिक्षा के उपयुक्त हैं।'

"मुझे पहले से ही सब पता था। गोला बालकों के पिता-माता भी अपने बच्चों की शिक्षा की बात पर खुश थे। केवल १५-१६ बच्चों के अभिभावक बोले, 'बाबाजी, हमारे बच्चे राजा की कचहरी के कर्मचारियों की सेवा करते हैं, इस कारण आधा सेर या तीन पाव बाजरा पाते हैं। आप यदि उन्हें विद्यालय में भर्ती करेंगे, तो वह बन्द हो जायेगा। यदि वह मिलता रहे और लड़के पढ़ाई करें, तो हम पूरी तौर से राजी हैं।' राजा को इस विषय में भी सहमत करने के बाद अगले दिन मैंने ५०-६० छोटे-छोटे गोला बालकों को लाकर राजा के सामने खड़ा कर दिया। उनकी आयु ५ से १६ वर्ष तक की थी। राजा ने आदेश दिया, 'ये लोग कल से स्कूल जायेंगे।' मैं निश्चिन्त मन से भोजन करने गया।

"इसी बीच राजा के एक प्रमुख कर्मचारी ने उन्हें एकान्त में ले जाकर कहा, 'महाराज, यह आपने क्या आदेश दिया? इनमें से अनेक लड़के कचहरी में कर्मचारियों का काम करते हैं, इन्हें हटाने से कार्य की बड़ी हानि होगी।' इन कर्मचारी की सलाह को राजा विशेष महत्त्व देते थे। बोले, 'अच्छी बात है, तो फिर कल से ये लोग स्कूल नहीं जायेंगे।'

"मैं अभी खाने को बैठा ही था कि यह समाचार मेरे पास

१. रक्षाबन्धन का पर्व श्रावणी पूर्णिमा को प्राय: अगस्त माह में पड़ता है, अत: इस घटना का काल अगस्त १८९४ ई. माना जा सकता है।

आ पहुँचा। मुझसे खाया नहीं गया, रोते हुए मैं राजा के पास दौड़ा। राजा ने चिन्तित होकर पूछा, 'आप! इस समय! भोजन तो हुआ है न?' मैं रोते हुए बोला, 'महाराज, आपने मुझे खाने ही कहाँ दिया?' राजा ने परेशान होकर पूछा, 'क्या हुआ?' मैं डबडबाई आँखों के साथ बोला, 'महाराज, आपने अभी-अभी स्वयं आदेश दिया और अगले ही क्षण उसे रद्द कर दिया!' राजा बोले, 'प्रधान कर्मचारी का कहना है कि बहुत-से गोला बालक कचहरी में काम करते हैं; उन्हें हटा लेने पर कार्य की विशेष हानि होगी।'

''मैंने कहा, 'मैं बहुत दिनों से देख रहा हूँ कि ये लोग कचहरी में क्या-क्या कार्य करते हैं। लिखते-लिखते किसी कर्मचारी को जँभाई आ गई, तो इन लोगों को चुटकी बजानी पड़ती है। कर्मचारी महाशय जब घर जाते हैं, तो बालक उनके कागजात उठाकर उनके घर जाता है तथा उनके घर का कार्य करता है। फिर अगले दिन उनके साथ-साथ कचहरी में आता है। अब आप मुझे समझा दीजिये कि कचहरी के किस कार्य की हानि होगी?'

''राजा ठहाके मारकर हँस उठे और पास के एक कर्मचारी से बोले, 'बाबाजी की बात का कोई प्रत्युत्तर दे सकता है?' कर्मचारी निरुत्तर रह गये। राजा बोले, 'बाबाजी, आप जाकर भोजन कीजिये, मैं आदेश दे दूँगा।' मैं बोला, 'देंगे क्या, महाराज! आपका आदेश हुए बिना मैं भोजन का स्पर्श तक नहीं करूँगा।' घर में संन्यासी कहीं भूखा न रह जाय, यह सोच राजा ने तत्काल आदेश दिया। मेरे विजय की बात सुनकर रानी माता ने खूब आनन्दित होकर स्कूल जाने के लिये अपने अन्त:पुर से भी ४-५ साल के ३-४ गोला बालकों को मेरे पास भेज दिया।

''अगले दिन विद्यालय में ८० की जगह लगभग २५० छात्र आये। स्कूल में उपयुक्त हेड मास्टर न होने के कारण मेरठ से एक बंगाली एम.ए. को ले जाकर उस कार्य में लगा दिया। बाद में मैंने स्कूल में एक सभा की स्थापना की। इस सभा में छात्रगण प्रबन्ध लिखकर पाठ किया करते थे और छात्रों की उन्नति के विषयों पर विशिष्ट व्यक्तियों तथा राज्य के अधिकारियों के व्याख्यान हुआ करते थे।''[२]

स्वामी अखण्डानन्द खेतड़ी में कुल मिलाकर लगभग दो वर्ष रहे। बीच-बीच में वे भ्रमण के लिये भी जाते थे, विशेष कर राजा जब गर्मियों में आबू पहाड़ आदि जाते, तो गंगाधर महाराज भी आसपास के स्थानों का दौरा करते। वे लिखते हैं, ''जहाँ भी रहता खेतड़ी-राजा को सलाह तथा उपदेश युक्त पत्र लिखता। स्वामीजी का आदेश मिलने के बाद मैंने राजा को लिखकर शिक्षा-प्रसार के लिये एक स्थायी शिक्षा विभाग गठन कराया, उसके लिये बजट मंजूर करवाया और तीन-चार गाँवों में स्कूलों की स्थापना की।''[३]

खेतड़ी में बालकों के साथ अखण्डानन्दजी (सारगाछी शताब्दी स्मारिका १९९७)

वैदिक शिक्षा का विस्तार

अपने खेतड़ी निवास के दौरान अखण्डानन्दजी ने और भी जो कार्य किये थे, उनके बारे में वे लिखते हैं, ''राजा का एक संस्कृत विद्यालय था। उसमें राजा ने विभिन्न स्थानों के २०-२५ छात्रों को रखकर उनके भोजन तथा शिक्षा की व्यवस्था की थी। विद्यालय में चार शिक्षक थे। एक मैथिली वैदिक पण्डित वेद का केवल हस्तपाठ तथा स्वरपाठ कराते थे, अर्थात् व्याख्या न करके केवल पाठ सिखाते थे। एक वैय्याकरण कुछ छात्रों को केवल व्याकरण ही पढ़ाते थे। एक अन्य पण्डित कुछ कोष तथा काव्य और एक अन्य जन कुछ छात्रों को फलित ज्योतिष की शिक्षा देते थे।

''मैंने राजा को समझाया कि इस प्रकार के अध्यापन से कोई विशेष फल होने की आशा नहीं है। राजा तथा पण्डितों से मैंने ऐसी व्यवस्था करने का अनुरोध किया, जिसमें नियमित रूप से वेद-वेदांग का अध्यापन हो और सभी छात्र वेदों का अर्थ समझ सकें। राजा ने जानना चाहा कि ऐसी शिक्षा की सुव्यवस्था कैसे हो सकेगी! मैंने उस विषय में समुचित उपदेश देकर वैदिक विद्यालय की स्थापना कराई। पर निर्धनता के कारण छात्रों ने मेरे द्वारा शुरू की गयी शिक्षा-प्रणाली पर आपत्ति उठायी। वे बोले कि वेद-विषयक उन ग्रन्थों को खरीदने हेतु कम-से-कम २०-२५ रुपयों की जरूरत होगी; और उतने रुपये वे कहाँ से लायेंगे?

''राजा के ऊपर पहले ही काफी भार दिया जा चुका था, अत: अब खेतड़ी की धनाढ्य प्रजा तथा राज-कर्मचारियों से वार्षिक चन्दे की व्यवस्था करनी होगी। छात्रों को पुस्तकें दान करने हेतु 'छात्र-उपकारिणी-सभा' और 'छात्र-सहायता-भण्डार' खोले गये। इससे ३०० रुपये एकत्र हुए थे। परन्तु वह पूरा न पड़ने पर बाकी रुपये राजा स्वयं देने को राजी हुए।''[४]

२. स्मृतिकथा (बँगला), स्वामी अखण्डानन्द, तृ.सं. पृ. १०७-११

३. वही, पृ. ११७; ४. ''इस कोश में सबसे अधिक सहायता खेतड़ी-शिक्षा-विभाग के सुपरिंटेंडेंट पं. शंकरलालजी शर्मा के चाचा पं. चिरंजीलालजी ने दी थी। पं. शंकरलाल इस कोष के अध्यक्ष थे। खेतड़ी शिक्षा-विभाग ने श्रीमान राजा अजीतसिंह के समय में बड़ी उन्नति की थी। श्रीमान् स्वयं छात्रों और अध्यापकों का उत्साह बढ़ाते

"पाठशाला का नाम हुआ 'खेतड़ी आदर्श वैदिक विद्यालय'। नियम बना कि सभी छात्र वेद पढ़ेंगे और वेदों के अर्थबोध के लिये वेदांग का अध्ययन करेंगे। मुम्बई से आवश्यक पुस्तकें मँगाई गयी। उसी समय जयपुर के पोलिटिकल एजेंट कर्नल प्रिडो के खेतड़ी आने से उन्हीं के द्वारा वैदिक विद्यालय का उद्घाटन तथा छात्रों को पुस्तक-वितरण कराया गया।"[५]

ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने वैदिक विद्यालय के कुछ छात्रों के उच्च शिक्षा हेतु वाराणसी भेजने की व्यवस्था भी की थी। इसका संकेत मिलता है उनके एक पत्र से, जो उन्होंने जयपुर से ९ जुलाई, १८९५ को वाराणसी के विद्वान् जमींदार श्री प्रमदादास मित्र के नाम लिखा है –

श्रीश्रीरामकृष्णः शरणम्

"श्रीयुक्त बाबू प्रमदादास मित्र महाशयेषु

महाशय, बहुत दिनों से आपका कोई समाचार नहीं मिला, मैं भी आपको अपना समाचार नहीं दे सका। इसके लिये मैं आपसे क्षमा माँगता हूँ। आशा करता हूँ कि आप उस पर ध्यान न देकर मेरे प्रति नाराज नहीं होंगे।

इसके पहले मैंने चार ब्राह्मण बालकों को एक पत्र के साथ आपके पास भेजा था। यदि आप उनका कुछ भला कर सकें अर्थात् उनके वहाँ सुविधापूर्वक रहकर विद्याध्ययन में सहायता कर सकें, तो आपका वास्तविक कल्याण होगा। आप तो स्वयं ही सब कुछ जानते हैं, अधिक क्या लिखूँ।

हमारे स्वामी त्रिगुणातीतानन्द (सारदा स्वामी) कैलास-यात्रा पर गये हैं। अभेदानन्द और निर्मलानन्द आजकल अल्मोड़े में हैं। स्वामी विवेकानन्द अब भी अमेरिका में ही हैं। सम्प्रति ऐसा ही समाचार मिला है।

(श्रीरामकृष्ण की जन्मतिथि के) महोत्सव के समय आप कोलकाता जा सके थे। सुना है कि इस बार के महोत्सव में पिछले वर्षों से अधिक लोगों का समागम हुआ था।

मेरा स्वास्थ्य एक तरह से ठीक ही है। अपनी कुशलता शीघ्र सूचित कर सुखी करेंगे। मेरी हार्दिक श्रद्धा तथा सम्मान स्वीकार करेंगे और सभी को यथायोग्य मेरा प्रेम तथा आशीर्वाद प्रदान करेंगे। इति –

आपका
गंगाधर

द्वारा ठाकुर हरिसिंहजी लाड़खानी, जयपुर"[६]

अखण्डानन्दजी इस विद्यालय को अपनी एक विशेष उपलब्धि मानते थे। खेतड़ी से विदा लेकर कोलकाता के आलमबाजार मठ में लौटने के बाद १४ अप्रैल १८९६ ई. को उन्होंने एक पत्र में लिखा था, "राजपुताना में केवल खेतड़ी में ही मैं एक वैदिक संस्कृत विद्यालय स्थापित करने में समर्थ हो सका था। इसके अतिरिक्त मैं अन्यत्र कहीं भी कुछ कर नहीं सका। खेतड़ी के विद्यालय में वाराणसी के संस्कृत विद्यालय के आचार्य, मध्यमा और उत्तमा परीक्षा के लिये निर्दिष्ट पुस्तकों आदि के साथ ही संहिता का अध्यापन भी आरम्भ किया गया था। मुझे लगता है कि वैदिक विद्या के विशेष प्रचार हुए बिना किसी भी प्रकार हमारे देश का वास्तविक कल्याण होना सम्भव नहीं।"[७]

राजा का दरबार तथा प्रजा का दुःख

खेतड़ी में वर्ष में एक बार महा-दरबार हुआ करता था। कहीं-कहीं लिखा है कि वह राजा के जन्मदिन[८] के अवसर पर होता था। पं. झाबरमल्लजी शर्मा ने जब अपनी पुस्तक 'खेतड़ी-नरेश और स्वामी विवेकानन्द' के सन्दर्भ में स्वामी अखण्डानन्द से राजा के बारे में पूछा, तो उन्होंने एक घटना का वर्णन किया, जो इस प्रकार है –

"एक वर्ष में जितने त्यौहार आते हैं, खेतड़ी में रहकर मैंने उन सबको देखा। त्यौहार मनाने में निस्सन्देह राजपुताना बड़ा उत्साह रखता है। एक दिन राजाजी की वर्षगाँठ[६] का महोत्सव भी मुझे देखने को मिला। वर्षगाँठ की जन्मतिथि के उपलक्ष्य में देवपूजा, ब्राह्मण-भोज आदि आवश्यक कृत्यों के अनन्तर दरबार होता है और राज्य के कर्मचारी तथा अन्य प्रजा लोग नजर देते हैं। मैं यद्यपि दरबार में सम्मिलित नहीं हुआ, क्योंकि संन्यासी के लिये यह आवश्यक नहीं था, तथापि लोगों के आग्रह पर ऊपर के बरामदे में ऐसे स्थान पर बैठ गया, जहाँ से मुझे दरबार का दृश्य अच्छी तरह दिखायी दे रहा था। दरबार के बीच में राजाजी खूब चमकीली पोशाक में विराजमान थे। उनके दाहिने और बाएँ पार्श्व में यथाधिकार राज्य के सरदार तथा उमराव बैठे हुए थे। इसके सिवाय हाकिम अमला और प्रजा के गण्यमान्य सज्जनों से दरबार पूर्ण था। दीवानखाने से बाहर आशा-सोटाधारी चोबदार पहरे पर डटे हुए थे। दरबार के बीच एक अहलकार सूची लेकर खड़ा था और वह जिस-जिस का नाम पुकारता वही मुहर या रुपये से राजाजी को नजर करके यथास्थान बैठ जाता।

"उसी समय एक ऐसी घटना देखने में आयी, जिससे मेरा हृदय विदीर्ण हो गया। मैंने देखा कि कुछ किसान, जिनके शरीर कठोर परिश्रम से पक-पककर साँवले हो गये थे, झुण्ड-के-झुण्ड बाहर दूर खड़े हुए हैं। अपने राजा के दर्शन की लालसा से वे नजर लेकर दूर-दूर से आये थे।

रहते थे।" (समन्वय मासिक, वर्ष ४, अंक १, जनवरी १९२५, पृ. ३१-२ – लेख – खेतड़ी में स्वामी विवेकानन्द और उनके गुरुभाई)
५. स्मृतिकथा (बँगला), स्वामी अखण्डानन्द, तृ.सं. पृ. ११७-१८
६. शरणागति और सेवा (बँगला ग्रन्थ), पृ. ९०

७. वही, पृ. ९१
८. राजा अजीतसिंह का जन्म संवत् १९१८ आश्विन शुक्ला १३, तदनुसार १६ अक्तूबर १८६१ ई. को हुआ था। (खेतड़ी का इतिहास, पं. झाबरमल शर्मा, कोलकाता , प्र.सं. १९२७, पृ. ८७)। अतः यह घटना सम्भवतः अक्तूबर १८९५ में हुई थी।

उनमें से जो लोग उत्साह से आगे बढ़कर झुककर दरबार की शोभा देखना चाहते थे, वे बुरी तरह चोबदारों द्वारा विताड़ित कर दिये जाते थे – भेंड-बकरियों की तरह भगा दिये जाते थे। मैंने वहाँ के आदमी से पूछा – 'भाई, यह क्या बात है?' उसने मुझे बताया, 'महाराज, बात यह है कि ये ही राज्य के आधार अन्नदाता किसान हैं। लेकिन अभागों की यह दशा है कि इन्हें राजा के दरबार को देखने का भी मौका नहीं दिया जाता। ये सब राजाजी को नजर देने के लिये आये हैं, किन्तु राज-दर्शन इनके भाग्य में कहाँ! शाम को राज्य का मुसाहिब बैठकर इनसे नजर के नाम पर रुपये वसूल कर लेगा और ये गरीब रुपयों से राज्य के खजाने को भरकर अपने घरों को चले जायेंगे। जो राज-कर्मचारी एक-दो मुहर देकर इतना सम्मान पा रहे हैं, वे बारह महीने राज्य को तथा प्रजा को लूटकर अपना घर भरते हैं और एक दिन मुहर देकर सम्मान -भाजन बनते हैं, मगर ये गरीब कठोर परिश्रम के द्वारा अन्न उत्पन्न करके राज्य को देते हैं, प्रजा को देते हैं और ऊपर से नजर देने के समय ऐसा सम्मान पाते हैं।'

"किसानों के इस अपमान में मुझे राजलक्ष्मी का अपमान दिखायी दिया और मेरा हृदय जल उठा। दरबार तो विसर्जित हो गया, परन्तु मैं दिन भर व्याकुल रहा। सायंकाल राजाजी अपने खास सरदारों के साथ बैठे हुए थे। उस समय उन्होंने मुझसे पूछा, 'कहिये महाराज, दरबार का आनन्द कैसा रहा?' 'आनन्द' शब्द सुनते ही मेरे चित्त में क्षोभ की लहर फिर जाग उठी। मैंने कहा, 'आनन्द! कैसा आनन्द? जिस समय आपका दरबार हो रहा था, उस समय मैं तो सन्ताप से जल रहा था, मानो मेरी छाती पर एक-एक पत्थर गिर रहा था। यह सुनते ही सब आश्चर्यचकित होकर मेरी ओर ताकने लगे। राजाजी ने नम्रतापूर्वक पूछा, 'यह क्यों महाराज?' इस पर मैंने उन्हें दरबार के समय गरीबों के साथ दुर्व्यवहार होने का वृत्तान्त कह सुनाया। उस कष्टकथा को कहते-कहते मेरा कण्ठ अवरुद्ध हो गया और आँखों से अश्रुधारा बह चली। यह देखकर राजाजी की भी आँखें गीली हो गयीं। उनके हृदय पर विलक्षण बिजली दौड़ गयी। उन्होंने बड़े गम्भीर स्वर में कहा, 'गंगासहाय! इस बात को याददाश्त के लिये लिख लो कि अगले दरबार में किसी को नहीं रोका जाय और सबकी नजर मैं स्वयं लूँगा।' इसके वर्ष भर बाद वर्षगाँठ का दरबार फिर सदा की भाँति हुआ। **उसमें स्वामी विवेकानन्दजी भी उपस्थित थे।**[९] राजा अजीतसिंह ने अपने वचन को स्मरण रखा और प्रजा के छोटे-बड़े सभी लोगों ने दरबार में सम्मिलित होकर स्वयं नजर देते हुए अपनी भक्ति प्रदर्शित की! वह दृश्य चिर-स्मरणीय था, वह भाव स्वर्गीय था और वह समय अपूर्व सुखकर था।"[१०]

९. वह दरबार जन्मदिन का नहीं, अपितु राजा साहब के सफल विदेश -यात्रा के निमित्त आयोजित हुआ था, क्योंकि १८९७ ई. के दिसम्बर माह के अन्तिम तीन सप्ताह स्वामीजी ने खेतड़ी में बिताये थे।

किसानों की सहायता

कृषि-सुधार के क्षेत्र में अपने कार्य के विषय में अखण्डानन्दजी अपनी 'स्मृतिकथा' में लिखते हैं – "खेतड़ी राज्य में मरे हुए पशुओं की हड्डियाँ डोम लोग अन्यत्र ले जाकर बेच देते थे। हड्डियाँ ही जमीन के लिये खाद हैं – यह बात महाराज को समझाकर मैंने अनुरोध किया कि उन्हें इस प्रकार बाहर भेजने से मना कर दिया जाय और (राज्य में) कृषि की उन्नति के लिये कृषि-विषयक पत्र-पत्रिकाएँ मँगवाने की व्यवस्था की।"[११] पं. झाबरमल शर्मा ने स्वयं अखण्डानन्दजी से ही सुनकर इस घटना का और भी विस्तृत विवरण दिया है – "यह किसी से अज्ञात नहीं है कि प्रतिवर्ष भारत से हड्डियाँ बटोरकर विदेश भेजी जाती हैं। स्वामी अखण्डानन्दजी ने किसी संवाद-पत्र में पढ़ा कि पिछले वर्ष ४४ लाख रुपये की हड्डियाँ भारत से विदेश भेजी गयीं। स्वामीजी ने इस समाचार की चर्चा करते हुए राजा से कहा, 'हड्डियों की खाद बहुत अच्छी होती है। इससे जमीन की उपजाऊ शक्ति बढ़ती है। पर स्वार्थी विदेशी व्यापारियों तथा कमीशन या दलाली के भूखे लोभी ठेकेदारों के कारण अब हड्डियाँ भी नहीं बच पातीं। हड्डियों से जमीन को जो स्वाभाविक खाद मिलती थी, वह नहीं मिल पाती। इसी से उसकी उर्वरा शक्ति दिनो-दिन घट रही है। महाराज ने राजाजी से यह अनुरोध भी किया कि यदि आप अपनी अधिकार-सीमा में ऐसी व्यवस्था कर दें कि जिससे हड्डियाँ बाहर न जा सकें, तो बड़ा उपकार हो। राजाजी ने अखण्डानन्द जी का प्रस्ताव स्वीकार करके तत्काल एक आदेश निकालकर हड्डियों का बाहर जाना निषिद्ध कर दिया था।"[१२]

रोगियों की चिकित्सा

इसके अतिरिक्त वे गाँव-गाँव में घूमकर तरह-तरह की बीमारियों से पीड़ित रोगियों को ढूँढ़ लाते और राजा के अस्पताल में रखकर उनकी चिकित्सा की व्यवस्था करवाते।

खेतड़ी में व्यापक स्तर पर शुरू हुए 'शिवज्ञान से जीव-सेवा' रूपी ऐतिहासिक कार्य के विषय में रामकृष्ण संघ के इतिहास में लिखा गया है – "रामकृष्ण मिशन गठित होने के पूर्व ही खेतड़ी में स्वामी अखण्डानन्द ने काफी जनहितकर कार्य सम्पन्न किये थे।"[१३]

१०. खेतड़ी-नरेश और स्वामी विवेकानन्द', पं. झाबरमलजी शर्मा, प्र.सं. १९२७, पृ. ९४-९७; एक अन्य विवरण के लिये देखें – स्मृतिकथा (बँगला), स्वामी अखण्डानन्द, तृ.सं. पृ. ११८-२०

११. स्मृतिकथा (बँगला), स्वामी अखण्डानन्द, पृ. १२०-२१

१२. 'आदर्श नरेश', पृ. १३९; 'खेतड़ी-नरेश और स्वामी विवेकानन्द', पृ. ९१-९२; १३. History of Ramakrishna Math & Mission, 3rd Ed., P. 87-88

❖ (क्रमशः) ❖

सम्बन्ध बराबरी का

रामेश्वर टांटिया

(लेखक १५ वर्ष की अवस्था में जीवन-संघर्ष के लिये जन्मभूमि त्यागकर कोलकाता आये। कोलकाता की एक अंग्रेजी फर्म जे. टॉमस कम्पनी में साधारण हैसियत से काम शुरू किया। बाद में क्रमश: उन्नति करते हुए मुम्बई, असम और कोलकाता में विभिन्न उद्योग स्थापित किये। १९५७ ई. में लोकसभा के सदस्य निर्वाचित हुए और १९६६ ई. तक संसद सदस्य रहे। पाँच बार कांग्रेस पार्टी के कोषाध्यक्ष भी हुए। १९६८-७० ई. में आप कानपुर के मेयर थे। आप सुप्रसिद्ध 'ब्रिटिश इण्डिया कॉरपोरेशन' के प्रबन्ध निदेशक भी थे। आपने १९५०, १९६१, १९६४ ई. में तीन बार विदेश-यात्राएँ की। व्यवसायी तथा उद्योगपति होते हुये भी अत्यन्त सहृदय, साहित्यानुरागी तथा समाजसेवी थे। आपने अनेक ग्रन्थों की रचना की। प्रस्तुत है 'भूले न भुलाए' पुस्तक के कुछ अंश। – सं.)

महाभारत में एक कथा है कि एक दिन बालक अश्वत्थामा दूध के लिये मचल गया। उन दिनों दूध बहुत सस्ता था, किन्तु गरीब माँ के लिये वह भी जुटाना सम्भव न था। उसने आँसू भरी आँखों से आटे का घोल पिलाकर बालक को बहलाने का प्रयत्न किया, पर उसे चुप न करा सकी।

द्रोणाचार्य घर लौटे। देखा – बालक रो रहा है। कारण का पता चला तो स्तब्ध रह गये। अपने ऊपर ग्लानि हुई। दारिद्र्य से मुक्ति के लिये वे आकुल हो उठे और स्थाई व्यवस्था के लिये महाराजा द्रुपद के यहाँ गये।

सहपाठी-मित्र महाराज द्रुपद ने कहा – "ब्राह्मण! चाहो तो कुछ भिक्षा मिल सकती है। बचपन के किसी समय के परिचय को मित्रता का रूप देकर मेरी भावुकता को उभारने का प्रयास मत करो। सम्बन्ध और मैत्री तो बराबरी वालों के बीज हुआ करती है।"

अपमानित द्रोण के मन में बात चुभ गई। उन्होंने उसी क्षण एक निर्णय लिया। और वहाँ से सीधे हस्तिनापुर चले गये। धनुर्विद्या के अप्रतिम आचार्य तो वे थे ही। राज्य में उन्हें कौरव और पाण्डव कुमारों को शिक्षा देने के लिये आदर-पूर्वक नियुक्त कर लिया गया। द्रोण ने कठोर परिश्रम तथा लगन से कुमारों को अस्त्र-शस्त्र संचालन की कला में निष्णात कर दिया। अर्जुन, भीम और दुर्योधन जैसे अपनी पराक्रमी शिष्यों को देखकर वे गद्गद हो उठते थे।

शिक्षा पूरी हुई। दीक्षान्त-समारोह के अवसर पर जब गुरु-दक्षिणा के लिये आचार्य से आग्रह किया गया, तो उन्होंने द्रुपद पर चढ़ाई करने की दक्षिणा माँगी। कुमारों ने सहर्ष स्वीकार कर लिया। कौरव-सेना के प्रचण्ड आक्रमण और रण-कौशल के सामने द्रुपद टिक न सके। शिष्यों ने उन्हें बन्दी बनाकर आचार्य के समक्ष उपस्थित किया।

द्रोणाचार्य ने पूछा – "कहो राजन्! अब तो मित्रता हो सकती है?" द्रुपद लज्जित थे। क्या जवाब देते? यह बात द्वापर-युग के अन्तिम चरण की है। इस सन्दर्भ में वर्तमान युग की भी, एक सच्ची घटना, याद आ रही है।

भिवानी के एक गरीब वैश्य का पुत्र दत्तक के रूप में कलकत्ते के किसी सम्पन्न परिवार में आया। बहुत वर्षों बाद उसके माता-पिता की इच्छा हुई कि जगन्नाथपुरी की यात्रा की जाय और इसी अवसर पर अपने पुत्र-पौत्रों को भी देख लें। एक दिन वे लोग थके-हारे कलकत्ता पहुँचे। वृद्ध पिता ने पत्नी को दूसरे सह-यात्रियों के साथ धर्मशाला में ठहरा दिया और स्वयं पुत्र से मिलने के लिये उसकी कोठी पर गया। पुत्र अपनी गद्दी पर बैठा था। उसकी खुशहाली और वैभव को देखकर पिता का हृदय गद्गद हो उठा। उसके कपड़े मैले थे, धोती ऊँची थी और दाढ़ी बढ़ी हुई थी; सुकचाते हुए वह गद्दी के एक कोने की तरफ बैठ गया। पुत्र अपने मित्रों के साथ गपशप करता रहा। उसने, न तो उठ कर पाँव छुए और न राजी-खुशी के समाचार पूछे। एक मित्र के पूछने पर उसने बताया कि हमारे गाँव के 'जान-पहचान' के हैं।

वृद्ध निर्धन तो था, पर स्वाभिमान के धन से वंचित न था। वैभव के मद में चूर, पुत्र की बात उसके मन में चुभ गई। वह राजस्थान की हवा में पला था; अपमान उससे सहा नहीं गया। कह बैठा – "सेठजी के देश का तो मैं 'जान-पहचान' का व्यक्ति हूँ, परन्तु इनको जन्म देनेवाली माँ का पति भी हूँ। ये धनवान और हम गरीब हैं, इसलिये इनका-हमारा सम्बन्ध भी भला कैसे हो सकता है? गलती हुई जो यहाँ चला आया। अच्छा हुआ जो इसकी माँ को ये बातें नहीं सुननी पड़ी, उसे धर्मशाले में ही छोड़ आया हूँ।"

ऐसी अप्रत्याशित और अप्रिय घटना हो जाने के बाद मित्रों की बैठक जम नहीं पाई। धीरे-धीरे वे एक-एक कर खिसक गये। वृद्ध तो पहले ही जा चुका था।

कलकत्ते आने के बाद से युवक सेठ ने अपने जन्म देने वाले माता-पिता की कभी खोज-खबर नहीं ली थी। उसमें गुमान आ गया था, परन्तु मुनीमों-गुमाश्तों के सामने हुई इस घटना के कारण वह बहुत झेंप गया। अपनी पत्नी को साथ लेकर शाम को वह घोड़े-गाड़ी में धर्मशाले में पहुँचा। माता-पिता तब तक पुरी के लिये रवाना हो चुके थे।

कहते हैं कि भाग्य घिरत-फिरत की छाया है। कुछ वर्षों में उसके सगे छोटे भाइयों ने बहुत-सा धन कमा लिया,

जबकि उसके पुत्र को व्यापार में घाटा होने के कारण उनकी सारी सम्पत्ति समाप्त हो गई। जब उनकी गरीबी की बात उसके घर पहुँची, तो माँ का दिल नहीं माना। वह जिद्द करके वृद्ध पति के साथ कलकत्ते के लिये रवाना हो गई। उस समय तक उसके छोटे पुत्रों का यहाँ मकान हो गया था और कारोबार भी बढ़ता जा रहा था।

खबर मिलने पर बड़ा पुत्र पत्नी और बच्चे सहित सकुचाता हुआ उनसे मिलने आया। वह अपने माँ-बाप के पैरों पर गिर पड़ा और बहुत वर्षों पहले किये गये अपने दुर्व्यवहार के लिये क्षमा माँगने लगा।

''अब तो तुमने मुझे पहचान लिया होगा'' – कहते हुए पिता मुँह फेरकर बैठ गया।

वृद्ध माता अपने बड़े बेटे और उसके बच्चों को एकटक देख रही थी। उसने बीस वर्ष पूर्व अपने बारह वर्ष के बालक की सुख-कामना से, उसे अपने सीने से पृथक् किया था।

पुत्र – कुपुत्र भले ही हो जाय, परन्तु माता – कुमाता नहीं होती। उसने बेटे को खींचकर छाती से लगा लिया। और भरे हुए गले से कहने लगी – ''तुम्हारे भाइयों के पास भगवान का दिया बहुत है। मूँग-मोठ में कौन बड़ा, कौन छोटा? चारों मिल कर कारोबार सम्हालो।''

उसकी आँखें गीली हो गई आई थीं, दोनों पौत्रौं को गोद में उठा कर जल्दी से कमरे के बाहर हो गई।

चोंच दी, वह चुगा भी देगा

उन्नीसवीं शताब्दी की बात है कि राजस्थान के किसी शहर में एक करोड़पति सेठ रहते थे। सब तरह से भरा-पूरा परिवार, सुन्दरी पतिपरायण पत्नी और दो स्वस्थ आज्ञाकारी पुत्र। व्यापार के लाभ और ब्याज से प्रति वर्ष सम्पत्ति बढ़ती जा रही थी। आडम्बर-शून्य जीवनचर्या थी, खर्च में वे बहुत मितव्ययी थे। साल के अन्त में आय-व्यय का मिलान करते और देख लेते कि पिछले वर्ष की तुलना में इस वर्ष कितनी बढ़ोत्तरी हुई, व्यय कितना रहा?

एक दिन शहर में एक प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् महात्मा आये। सेठ ने उनकी प्रसिद्धि की बात सुन रखी थी। आदर-सत्कार के साथ अपने घर ले आये। सेवा से उन्हें प्रसन्न कर दिया। महात्माजी ने जन्म-पत्री देखी। उन्होंने बताया – ''बृहस्पति उच्च है, सब प्रकार के सुखों में जीवन व्यतीत होगा, भाग्य में यश भी खूब मिला है। आप साधु-महात्माओं और दीन-दुखियों को प्रतिदिन अन्न भेंट करना; इससे आपके वंश में पाँच पीढ़ी तक धन, वैभव और यश अक्षुण्ण रहेगा।''

महात्माजी यह सब बता कर चले गये। सेठ उनके कहे अनुसार दूसरे दिन से अन्न-वितरण करने लगे, परन्तु उसके मन में एक चिन्ता रहने लगी – ''मेरी छठी पीढ़ी का क्या होगा? वह कैसे रहेगी? उसका क्या हाल होगा? उसके लिये क्या किया जाय? आदि-आदि।''

सेठानी और मुनीम-गुमाश्तों ने बहुत समझाया कि छठी पीढ़ी की, अभी से क्या चिन्ता है? इतनी सम्पत्ति है, जमा हुआ करोबार है, पाँच पीढी तक तो यह चलेगा ही। आगे भी आपके वंशजों में कोई-न-कोई समर्थ होगा, जो सम्भाल लेगा। मगर सेठजी का मन मानता नहीं था, वे चिन्ता में दुबले होते गये, कुछ बीमार भी रहने लगे।

एक दिन वे अन्न-वितरण हेतु अपनी कोठी की ड्योढ़ी पर बैठे थे कि एक गरीब ब्राह्मण भगवत्-भजन करते हुये सामने से गुजरा। सेठ ने कहा – ''महाराज! अन्न की भेंट लेते जाइये।'' उसने विनम्रता से उत्तर दिया – ''सेठजी! इस समय के लिये मुझे पर्याप्त अन्न की प्राप्ति हो गई है, सायंकाल के लिये भी सम्भवत: किसी दाता ने मेरे घर सीधा भेज दिया होगा। न होगा तो मैं पूछ कर बता दूँगा।''

कुछ देर बाद ब्राह्मण वापस आया। उसने बतलाया कि घर भी कहीं से सीधा आ गया है, इसलिये आज के लिये अब और नहीं चाहिये।

सेठजी कुछ चकित से रह गये। कहने लगे – ''महाराज! आप-जैसे सात्त्विक ब्राह्मण की कुछ सेवा मुझसे हो जाये। कम-से-कम एक छाज (एक तौल) अन्न अपने आदमियों से पहुँचवा देता हूँ, बहुत दिनों तक काम चल जायेगा।''

ब्राह्मण ने सरल भावना से कहा – ''दयानिधान! शास्त्रों में लिखा है कि परिग्रह पाप का मूल है, विशेषत: हम ब्राह्मणों के लिये। आप किसी और जरूरतमन्द को वह अन्न देने की कृपा करें। दयालु प्रभु ने हमारे लिये आज की व्यवस्था कर दी है। कल के लिये वह फिर स्वयं ही भेज देगा। जिसने चोंच दी है वह चुगा भी देगा।''

सेठजी उस गरीब ब्राह्मण की बात सुन रहे थे। मन-ही-मन विस्मित भी थे – ''इसे तो कल की भी चिन्ता नहीं। जो आसानी से मिल रहा है, उसे भी लेना नहीं चाहता। एक मैं हूँ, जो छठी पीढ़ी की चिन्ता में घुला जा रहा हूँ।''

दूसरे दिन से वे स्वस्थ तथा प्रसन्न दिखाई देने लगे। दान-धर्म की मात्रा बढ़ गई और चेहरे पर शान्ति की आभा भी विराजने लगी।

❑❑❑

माँ की अमिट स्मृति

निर्मल नलिनी मित्र

(माँ श्री सारदा देवी दैवी-मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

(स्वामी सुबोधानन्द की भतीजी निर्मल नलिनी मित्र (पति का नाम श्री काली किंकर मित्र) की उम्र (दिसम्बर १९९६ तक) ९४ वर्ष है। उन्होने स्वयं अपने हाथों से अपनी स्मृति कथा लिखी है)

स्वामी सुबोधानन्द अर्थात् खोका महाराज मेरे चाचा थे। महाराज आठ भाई थे। अपने भाइयों में वे तीसरे थे। मेरे पिता सुरेशचन्द्र घोष उनके बड़े भाई थे – भाइयों में दूसरे नम्बर पर।

१९१५ ई. की फरवरी में श्रीरामकृष्ण की जन्मतिथि के दिन हमारे घर के सभी लोग घोड़ा-गाड़ी में बेलूड़ मठ गये। वहाँ जाकर सुना – माँ आयेंगी। हम सभी लोग पुराने मन्दिर और स्वामीजी के कमरे में प्रणाम करने के बाद दुमंजले पर ही गंगा की ओर के बरामदे में जाकर बैठे। लगभग एक घण्टे बाद माँ के आ जाने पर सभी लोग चंचल हो उठे। हम सब लोग जल्दी-जल्दी उस कमरे में गये, जिसमें माँ बैठी थीं। देखा – और भी बहुत-से भक्त माँ को प्रणाम करने के लिये माँ के चरणों में मानो गिर-पड़ रहे हैं। एक महिला, जो सम्भवत: गोलाप-माँ थीं, बोलीं – "ठहरो, पहले माँ जरा स्थिर होकर बैठ जायें, तब प्रणाम करना।" प्रणाम शुरू हुआ। हमारे परिवार के सभी बड़े लोगों को माँ पहचानती थीं। जब मैंने प्रणाम किया तब माँ ने मेरी ओर देखते हुए मेरी चाची-माँ (काशीश्वरी घोष – खोका महाराज के बाद के भाई, भाइयों में चौथे सिद्धेश्वर घोष[1] की पत्नी) से पूछा – "यह कौन है – पहले कभी नहीं दिखी?" चाची बोलीं – "मेरे दूसरे जेठ की छोटी लड़की है।" माँ ने कहा – "ओ माँ, अभी से शादी भी हो गयी? ससुराल कहाँ हैं?" चाची ने कहा – "भवानीपुर के मित्तरों के घर में। बहुत अच्छा रिश्ता हुआ है।" माँ मेरे सिर पर हाथ रखकर बोलीं – "सुखी रहो बेटी।" प्रसाद पाते समय स्वयं माँ ने अपने हाथों से परिवेशन करके हम लोगों को खिलाया।

माँ के शरीर का रंग, उस समय जैसा मैंने देखा था, बहुत गोरा नहीं था, बल्कि ताँबे जैसा रंग था। मैंने चाची-माँ से सुना कि अधिक आयु हो जाने के कारण माँ के शरीर का रंग वैसे दब गया था। पहले माँ का रंग बहुत गोरा था। माँ के सिर के बाल भी खूब लम्बे, काले और सुन्दर थे। लौटते समय माँ ने हम लोगों को घर के लिये बहुत-सी पूरियाँ और बूंदी का प्रसाद दिया था। वही केवल एक बार ही मैंने माँ का दर्शन किया था। तब मेरी आयु १३ वर्ष थी। पर उस एकमात्र दर्शन की स्मृति अब इस ८४ वर्ष की आयु में भी मेरे मन-प्राणों में स्पष्ट रूप से अंकित है।*

❖ **(क्रमशः)** ❖

१. ठाकुर की अन्तिम बीमारी के समय तरुण सिद्धेश्वर काशीपुर में आये थे। बाबूराम महाराज ने सिद्धेश्वर को ठाकुर के पास ले जाने की इच्छा व्यक्त की, पर वे नहीं गये, बोले, "भाई संन्यासी होंगे और यदि वे भी हो गये तो घर में माँ को कष्ट होगा। तब बाबूराम महाराज ने सिद्धेश्वर को खाने के लिये ठाकुर के प्रसादी सूजी की खीर दी। प्रसाद खाने के बाद उन्हें लगा कि अब घर लौटना उनके लिये असम्भव है, वे भी साधु होंगे। बाद में यह सोचकर कि माँ को कष्ट होगा, मन कड़ा करके वे घर लौट आये। बाद में जब स्वामीजी जब उन्हें दीक्षा देना चाहते थे, तो उन्होंने कहा, "मैं किसी मनुष्य से दीक्षा नहीं लूँगा।" यह सुनकर बड़ी-बड़ी आँखें तरेर कर स्वामीजी बोले, "क्या कहा, मैं मनुष्य हूँ?" फिर कुछ देर बाद बोले, "ठीक है, तुझे यहीं (बेलूड़ मठ) से दीक्षा लेनी होगी।" इसके बहुत दिनों बाद एक दिन महापुरुष महाराज, खोका महाराज तथा सिद्धेश्वर काशी में गंगातट पर टहल रहे थे। सहसा महापुरुष महाराज ने उनसे दीक्षा लेने की बात कही। सिद्धेश्वर का वही एक उत्तर था। तब खोका महाराज बोले, "ये तो मनुष्य नहीं, महापुरुष हैं।" इस पर सिद्धेश्वर दीक्षा लेने को राजी हो गये। महापुरुष महाराज के आदेश से उन्होंने एक रुद्राक्ष की माला भी खरीदी। महापुरुष महाराज उनसे बोले, "हम लोग मणिकर्णिका घाट चल रहे हैं, तुम वहीं गंगा में माला धो लो।" सिद्धेश्वर ने वैसा ही किया। तब महापुरुष महाराज ने उस माला को लिया और सूर्य की ओर हाथ उठाकर (उस समय दोपहर के बारह बजे थे) दीक्षा का मंत्र बोलकर माला उनके गले में पहना दी। सिद्धेश्वर ने अनुभव किया – मानो कोई शक्ति उनके भीतर प्रविष्ट हो गयी हो।

* उद्बोधन, वर्ष ९७, अंक ५, ज्येष्ठ १४०२, पृ. २१७
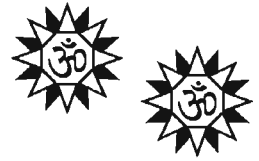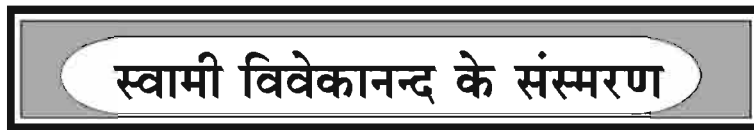
स्वामी विवेकानन्द के संस्मरण

क्रिस्टीना अल्बर्स

(धन्य थे वे लोग, जिन्होंने स्वामीजी के काल में जन्म लिया तथा उनका पुण्य सान्निध्य प्राप्त किया। उनके प्रत्यक्ष सम्पर्क में आनेवाले अनेक लोगों ने अपनी अविस्मरणीय स्मृतियाँ लिपिबद्ध की हैं, जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं तथा ग्रन्थों में प्रकाशित हुई हैं। प्रस्तुत संस्मरण अद्वैत आश्रम द्वारा प्रकाशित 'Reminiscences of Swami Vivekananda' ग्रन्थ से गृहीत तथा अनुवादित हुआ है। – सं.)

मैं स्वामी विवेकानन्द से कैलीफोर्निया के सैन-फ्रांसिस्को नगर में मिली। यह १९०० ई. की बात है और अवसर था एक व्याख्यान का।

स्वामीजी व्याख्यान के करीब बीस मिनट पहले ही पहुँच गये और अपने कुछ मित्रों के साथ बातें करने में मशगूल हो गये। मैं उनसे थोड़ी ही दूर बैठी थी और उनमें बड़ी गहराई से रुचि ले रही थी, क्योंकि मुझे लग रहा था कि उनके पास मुझे देने योग्य कुछ है। उनकी बातें साधारण विषयों पर थीं, तथापि उनके व्यक्तित्व से स्फुरित होनेवाली एक विचित्र शक्ति का बोध मुझे हो रहा था।

उन दिनों उनका स्वास्थ्य ठीक नहीं चल रहा था। जब वे मंच पर जाने के लिये उठे, तो ऐसा लगा मानो उन्हें इसके लिये प्रयास करना पड़ा और बलपूर्वक चलना पड़ा हो। मैंने देखा कि उनकी पलकें सूजी हुई थीं और वे ऐसे दिख रहे थे, मानो पीड़ाग्रस्त हों।

बोलने के पहले क्षण भर मौन खड़े रहे और उसके बाद मैंने उनके व्यक्तित्व में एक रूपान्तरण देखा। उनके चेहरे पर चमक आ गयी और मुझे लगा कि उनके शरीर के सारे लक्षणों में ही परिवर्तन आ गया है।

बोलना शुरू करते ही उनमें पूर्ण रूपान्तरण दृष्टिगोचर होने लगा और इन महामानव का आत्मतेज अभिव्यक्त हो उठा। मैंने उनके व्याख्यान के प्रचण्ड प्रभाव का अनुभव किया – उनके शब्द सुनने से कहीं अधिक महसूस करने की वस्तु थे। मुझे ऐसा अनुभव हो रहा था मानो मैं किसी उच्चतर सत्ता या भावों के एक समुद्र में पहुँच गयी हूँ और व्याख्यान समाप्त होने पर उसमें से निकलना मानो पीड़ा की सृष्टि करनेवाला था।

और फिर उनकी वे आँखें! कितनी अद्भुत थीं वे! वे ऐसे उल्का-खण्डों के समान थी, जिनसे निरन्तर ज्योति का स्फुरण होता रहता था। वह दिन बीते अब तीस वर्ष से भी अधिक काल हो चुका है, परन्तु मेरे हृदय में उसकी स्मृति सर्वदा तरो-ताजा रही है और रहेगी। वे इस पृथ्वी पर दीर्घकाल तक नहीं रहे, परन्तु किसी जीवन का मूल्यांकन में उसकी आयु का क्या महत्त्व है?

१८९३ ई. में एक अज्ञात और तिरस्कृत व्यक्ति के रूप में वे महानगरी शिकागो के उस सभागृह में प्रविष्ट हुए। और जब वे उस सभागार से निकले, तो एक पूज्य महानायक बन चुके थे। वे बोले। बस, इतना ही काफी था। उनकी अन्तरात्मा की गहराई से आवाज निकली और सम्पूर्ण जगत् निनादित हो उठा। एकमात्र व्यक्ति ने आधी दुनिया की विचार-धारा को बदल डाला – यही उनके जीवन का उद्देश्य था।

शरीर नाशवान है। उनके ऊपर जिस महान् उत्तरदायित्व का बोझ था, वह उनके लिये शारीरिक दृष्टि से अत्यधिक था। परन्तु उनका कार्य पूरा हुआ। उन्होंने इस धरती पर मुश्किल से चालीस वर्ष बिताये, परन्तु वे चालीस वर्ष कई शताब्दियों से बढ़कर थे। उन्हें उच्चतर लोकों से एक महान् कार्य सम्पन्न करने हेतु भेजा गया था; और वह कार्य पूरा हो जाने के बाद वे देवताओं के बीच अपने उसी नियत स्थान को लौट गये, जहाँ से वे आये थे।

हे महात्मा, तुम्हारा कार्य चिरकाल तक जीवित रहेगा। हमें दूर से ही तुम्हारे दिव्य व्यक्तित्व का 'बोध' मिला। तुम लाये सुबह के तारे की सौम्य वाणी; और सागर के तरंगों की मर्मर ध्वनि।

अभय तथा मुक्त धारा में बहती वह वाणी मैंने सुनी। और इस सबके माध्यम से जो माधुर्य प्रवाहित हुआ; वह वन्य जलप्रपात के संगीत के सरीखा था, वह दक्षिणी समुद्र की गुफाओं के आसपास उठनेवाली मर्मर ध्वनि के समान था।

तुमने गर्जन के स्वर में वर्षों तक अपना सन्देश दिया। तुम्हारी वाणी सुनने का तात्पर्य था, उसकी रूपहली ध्वनि में खो जाना – गायिका पक्षी के कण्ठ से निकलने वाली कोमल स्वर-लहरी में खो जाना। और उसके साथ मिश्रित था किसी अन्य लोक से आनेवाला वज्र का उद्घोष।

अब भी हम उस महान् प्रेम की शक्ति का बोध करते हैं। इस अन्धकारमय गोलक में साहस बँधाने के लिये, वह उदात्त आत्मा, उस महत्तर आनन्द के लोक का आशीष लिये, अब भी मृदुतापूर्वक हमारे बीच मँडरा रही है।

(प्रबुद्ध-भारत, अगस्त १९३८ से)

❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑

क्रोध पर विजय (१)

स्वामी बुधानन्द

(हमें अपने जीवन में प्राय: ही अपने तथा दूसरों के क्रोध का सामना करना पड़ता है, परन्तु हम नहीं जानते कि क्रोध क्या है, इसकी उत्पत्ति कैसे और कहाँ होती है, और उसे कैसे नियंत्रण में लाया जाय। इसी विषय को लेकर रामकृष्ण संघ के एक विद्वान् संन्यासी स्वामी बुधानन्द जी ने १९८२ ई. में रामकृष्ण मिशन के दिल्ली केन्द्र में अंग्रेजी में एक व्याख्यान-माला प्रस्तुत की थी। बाद में ये व्याख्यान मद्रास मठ के आंग्ल मासिक 'वेदान्त-केसरी' में धारावाहिक रूप से और अन्तत: एक पुस्तिका के रूप में प्रकाशित हुए। आधुनिक जीवन में उनकी उपादेयता को देखते हुए हम उसका हिन्दी अनुवाद भी प्रस्तुत कर रहे हैं, अनुवादक हैं स्वामी विदेहात्मानन्द। – सं.)

क्रोध के दुष्परिणाम

भूमिका – कुछ दुर्लभ अपवादों को छोड़ दें, तो हममें से अधिकांश लोगों ने क्रोध नामक उत्तेजना – इसकी तीव्रता तथा ताप; और इसके पागलपन तथा अदम्य ऊर्जा का अनुभव किया होगा। हममें से कुछ मानो इसके द्वारा उत्पन्न त्रासदी के स्थायी शिकार बने रहते हैं।

क्रोध का अनुभव करने वाले सभी लोग इस पर विजय प्राप्त करना चाहते हों, ऐसी बात नहीं है – बल्कि बहुत-से लोग तो अपने क्रोध के पक्ष में युक्तियाँ भी दिखाने लगते हैं। वे लोग स्वयं में तथा दूसरों में इसकी उपस्थिति को न्यायसंगत ठहराने के लिये किसी भी हद तक जा सकते हैं, मानो जगत् का कल्याण उनके क्रोध पर ही निर्भर करता हो। आजकल 'क्रुद्ध पीढ़ी' के समर्थन में आवाज उठाना भी एक बौद्धिक फैशन हो गया है, मानो व्यक्तिगत स्तर पर विध्वंसात्मक समझा जानेवाला क्रोध, सामुदायिक रूप धारण कर लेने पर एक प्रशंसनीय गुण बन जाता हो। वस्तुत: क्रोध एक आधुनिक सामाजिक दृष्टिकोण, एक राजनीतिक हथियार, यथास्थितिवाद को पलटने के लिये एक सामूहिक बहाना और क्रान्ति रूपी एक तरह के गैर-परम्परागत निहित स्वार्थ के लिये एक उपयोगी साधन बन जाता है। समाज के वंचित, पीड़ित लोग, विशेषकर उनके नेता, श्रमिक-संगठन, छात्रसंघ आदि जान-बूझकर क्रोध के नारे को अपने कार्य की एक रणनीति अथवा मोलभाव का मूलमंत्र बना लेते हैं – 'ऐसा-ऐसा करो, अन्यथा इसका फल भोगना होगा।' और ऐसा लगेगा मानो इससे काम हो जाता है।

कुछ लोग क्रोध को एक तरह का पुरुषोचित गुण मानते हैं और असामाजिक तत्त्वों के बीच 'दादा' के रूप में स्वीकृत होने के लिये नेतागीरी का बिल्ला धारण किये रहते हैं। अपराधियों के गोपनीय जगत् में फ्रीज में संरक्षित क्रोध को सम्मान-सूचक माना जाता है। व्यक्ति उसे अपनी इच्छानुसार कभी भी फ्रीज के आइस-बाक्स से निकालकर अपने उद्देश्य के स्टोव पर गरम कर लेता है –

उसके नथुने फड़कने लगते हैं,
उसके होठों पर वक्रता आ जाती है,
उसके गालों पर लालिमा छा जाती है,
उसकी भौंहें टेढ़ी हो जाती हैं,
उसका सीना उतरने-चढ़ने लगता है,
उसका हृदय धधकने लगता है और
उसका घूँसा किसी पर भी पकड़कर उसे
मजा चखाने के लिये सर्वदा ही तत्पर रहता है।

उपर्युक्त शब्दों में क्रोध कितने सुन्दर रूप में चित्रित हुआ है! संक्षेप में इसका जीवन-दर्शन इन शब्दों में निरूपित किया जा सकता है – "क्रोध सबको हथियार मुहैय्या करा देता है। जब कोई व्यक्ति खून का प्यासा हो जाता है, तो कोई भी वस्तु उसके लिये भाले का काम दे देती है।"

विज्ञापनों, अखबारों, इलेक्ट्रानिक माध्यमों में हम क्रोध एवं हिंसा को बड़ी विस्तारपूर्वक चित्रित किया हुआ पाते हैं। ऐसा खाद्य आम जनता के लिये निश्चित रूप से हानिकर प्रभाव उत्पन्न करता है। इसके बावजूद क्रोध के एक वस्तु के रूप में इस बाजारीकरण का शायद ही कहीं कोई विरोध होता है। अतएव क्रोधरूपी तत्त्व पर विजय पाने के लिये रणनीति बनाने के पूर्व उसके सामाजिक तथा व्यक्तिगत पक्षों पर विचार कर लेना आवश्यक होगा।

क्रोध तथा इसके सह-उत्पाद

आइये, अब हम क्रोध की कुछ परिभाषाओं पर विचार करें। "क्रोध एक क्षणिक पागलपन है।" एक अन्य विचित्र परिभाषा है – "क्रोध एक ऐसा दर्पण है, जिसमें आप अपना स्वयं का चेहरा देखने का साहस नहीं करते।" आक्सफोर्ड शब्दकोश क्रोध को extreme displeasure (चरम नाराजगी) के रूप में परिभाषित करता है। स्वामी तुरीयानन्द इच्छाओं के घनीभूत रूप को क्रोध कहते हैं।

यद्यपि क्रोध की एक सटीक परिभाषा कर पाना कठिन प्रतीत हो सकता है, तथापि प्राय: सभी लोग जानते हैं कि क्रोध क्या है, क्योंकि यह इतना सर्वव्यापी है। हमें घर में, सड़कों पर, दफ्तरों में, सामाजिक अनुष्ठानों में, चुनावी बूथों पर, विधान-सभाओं में, खेल के मैदानों में, अन्तर्राष्ट्रीय

सम्मेलनों में; और सर्वाधिक अपने भीतर ही अपने इस 'क्रोध' से भेंट होती रहती है।

अधिकांश मामलों में, क्रोध दूसरों की अपेक्षा अपने को ही अधिक हानि पहुँचाता है। क्रोध व्यक्ति के अपने ही स्वभाव से उदित होने के कारण यह एक स्वाभाविक तथा सबल भाव है, जिसमें परम विध्वंसात्मक सम्भावना निहित होती है। प्रत्येक व्यक्ति के स्वभाव में रजोगुण का मिश्रण होने के कारण, हर लकड़ी के टुकड़े में अग्नि के समान हर व्यक्ति में क्रोध छिपा रहता है। सभी लोग हल्के या प्रबल रूप से क्रोध के आवेश में आते हैं। क्रोध संक्रामक भी है। क्रोध के प्रज्वलित शब्द दूसरों में भी क्रोध उत्पन्न कर सकते हैं। प्रबल उत्तेजना की अग्नि के बुझाने के लिये कोमल शब्द रूपी जल के फुहारों की आवश्यकता होती है।

क्रोध के दुष्परिणाम अनेक हैं। क्रोधी व्यक्ति के मन के साथ पहली बात यह होती है कि वह जीवन में सीखे हुए विवेक के पाठों को भूल जाता है। इसके बाद वह अपने विचारों तथा भावों पर नियंत्रण खो बैठता है। वह अपने अति उत्तेजित अहंकार के एकमात्र मार्ग-दर्शन में अति सक्रिय हो उठता है। वह अपनी विवेक की शक्ति, सन्तुलन की धारणा को खो बैठता है और इस तरह से आक्रामक हो उठता है, जो उसके स्वयं के हित के विपरीत है। जब क्रोध व्यक्ति का सहज स्वभाव बन जाता है, तब उसके शारीरिक स्वास्थ्य तथा मानसिक सन्तुलन में ह्रास आ जाता है और उसकी आन्तरिक शान्ति क्षण भर में ही उड़न-छू हो जाती है। क्रोध मित्रताओं, परिवारों, व्यावसायिक साझेदारियों और रोजगार के अवसरों को बरबाद कर सकता है। साम्प्रदायिक तथा जातीय दंगे, आगजनी, युद्ध, आत्महत्याएँ, हत्याएँ तथा अपराध के अन्य अनेक रूप मूलत: क्रोध की ही उपज हैं। वस्तुत: क्रोध के फलस्वरूप एक सुन्दर व्यक्ति भी कुरूप दिखने लगता है। जो व्यक्ति अपने क्रोध के आवेगों के बारे में पश्चाताप करता है, उसे अपने दफ्तर के मेज के सामने एक पड़ा दर्पण रखना चाहिये। बारम्बार क्रोध के आवेश में आनेवाले किसी व्यक्ति में यदि सजीव हास-परिहास की भी अभिरुचि हो, तो यह दर्पण-चिकित्सा उसके लिये उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

क्या क्रोध का कोई उज्ज्वल पक्ष भी है?

इसके बावजूद कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जो सम्भवत: क्रोध को इतना उपयोगी मानते हैं कि वे इस पर विजय पाने के उपाय नहीं सीखना चाहते। एक सच्ची घटना इस बात को स्पष्ट कर देती है –

एक व्यक्ति ने अपनी पत्नी से कहा – "चलो, हम आश्रम में जाकर 'क्रोध पर विजय कैसे प्राप्त करें' – विषय पर प्रवचन सुन आयें; विषय रोचक प्रतीत होता है।" इस पर उक्त महिला ने कहा कि वह अपने क्रोध पर विजय प्राप्त करने के उपाय नहीं सीखना चाहती, क्योंकि उसके पास क्रोध ही एकमात्र ऐसी चीज है, जिससे कि उसके बच्चे डरते हैं। अपने बच्चों को नियंत्रण में रखने के एकमात्र उपाय को वह खोना नहीं चाहती थी! उसका यह थोड़ा असामान्य दृष्टिकोण था कि क्रोध की भी कुछ उपयोगिता है। निम्नलिखित उक्ति में भी यही भाव झलकता है – "जहाँ कोमलता निरर्थक सिद्ध होती है, वहाँ कठोरता ही उचित है।" सदाचार की दृष्टि से न हो, तो भी उपयोगितावाद की दृष्टि से तो क्रोध के प्रयोग को स्वीकृति मिल ही सकती है।

बातचीत के दौरान उस व्यक्ति ने संकेत दिया कि उसकी पत्नी बात-बात में नाराज हो जाती है। उसकी यह टिप्पणी एक रोचक परिस्थिति को समझने में सहायक सिद्ध हुई। यहाँ पर यह पूछा जा सकता है कि "आप क्रोध का उपयोग कर रहे हैं या क्रोध आपका उपयोग कर रहा है? क्या क्रोध आपके हाथों का एक कुशल यंत्र है, या फिर आप स्वयं अपने क्रोध के हाथों में खेल रहे हैं?"

यदि हमने क्रोध पर नियंत्रण करना नहीं सीखा है, तो फिर हम क्रोध का सुनियोजित रूप से किसी रचनात्मक उद्देश्य से उपयोग नहीं कर सकते। क्रोध को अधिकारपूर्वक तथा सुनियोजित रूप से उपयोग कर पाना एक कठिन कार्य है। अरस्तू का कहना है – "कोई भी क्रोधी हो सकता है। यह बड़ा आसान है, परन्तु उचित व्यक्ति पर, उचित मात्रा में, उचित समय पर, उचित उद्देश्य के लिये और उचित प्रकार से क्रोध करना – यह हर किसी के वश की बात नहीं है और आसान भी नहीं है।" यदि माँ अपने क्रोध का सुनियोजित ढंग से ठीक-ठीक उपयोग करना जानती है, उसी प्रकार जैसे पानी को गरम करने के लिये बिजली का नपे-तुले रूप में उपयोग किया जाता है, तो फिर हम कह सकते हैं कि ऐसा आचरण स्वीकार्य है, बशर्ते अन्य उपाय असफल हो चुके हों। तथापि वह महिला यदि अपने बच्चों को विद्युत्-यंत्र से गरम सेक देते समय स्वयं ही जल जाय, तो फिर दीर्घकालिक दृष्टि से उसकी क्रोध-चिकित्सा उनका भला नहीं कर सकेगी। जो लोग अपने बच्चों या किसी अन्य पर इस क्रोध-चिकित्सा का उपयोग करने को तत्पर हैं, उन सभी के लिये उपर्युक्त उक्ति का मनोवैज्ञानिक तात्पर्य समझना अति आवश्यक है।

यह सही है कि हर माता अपने हृदय में, अपनी सन्तानों के विषय में उनकी सर्वोपरि हित-कामना पोषित करती है। असामान्य माताओं की बात अलग है। उपरोक्त उदाहरण में एक माता अनुशासन के उपाय के रूप में क्रोध के द्वारा अपने पुत्र का उपकार ही करना चाहती थी। परन्तु अपने मूलभूत रूप में क्रोध, एक विषाक्त एवं संक्रामक भाव है। जब कोई माता सचमुच ही नाराज होकर अपने बच्चों पर

प्रहार करती है, तो बच्चे भी क्रोधित हो जाते हैं, परन्तु वे प्रभावी रूप से अपनी प्रतिक्रिया या विरोध व्यक्त नहीं कर पाते। इसके अतिरिक्त भय के माध्यम से थोपे गये अनुशासन के एक अच्छी आदत में परिणत होने की सम्भावना बहुत कम है, क्योंकि इसमें साथ-ही-साथ बच्चों के हृदय में अव्यक्त शत्रुता का भाव भी बढ़ता जाता है। इसका फल यह होता है कि उनका क्रोध मन के अवचेतन स्तर में जाकर अवसर की प्रतीक्षा करता रहता है और उसके चित्त में विभिन्न प्रकार के प्रतिकारों की सृष्टि करता है। एक दिन जब इस शत्रुता का अवश्यम्भावी रूप से विस्फोट होता है, तब क्रोध पर नियंत्रण न सीखनेवाली वह माता, अपने वयस्क बच्चों पर अपना इच्छित क्रोध-चिकित्सा का उपयोग कर पाने में असमर्थ हो जाती है और स्वयं को अत्यन्त दुखी तथा दुर्दशाग्रस्त अवस्था में पाती है। और, ऐसी परिस्थिति के लिये निश्चित रूप से वह स्वयं भी उत्तरदायी है। यह बात विचारणीय है कि क्या एक सामयिक लाभ के लिये अपने सन्तान-प्रेम के स्थायी लाभों की बलि चढ़ा देना उचित है!

परन्तु माँ ने अपने क्रोध पर नियंत्रण पाने की विद्या सीखने के बाद, यदि क्रोध-चिकित्सा का उपयोग किया होता, तो परिस्थिति पूर्णत: भिन्न होती। उस दशा में वह, श्रीरामकृष्ण की उस बोध-कथा के नाग की भाँति डँसती नहीं, बल्कि केवल फुफकार मारती।*

जिस व्यक्ति ने क्रोध पर नियंत्रण करना नहीं सीखा है, उसके द्वारा क्रोध का रचनात्मक उपयोग असम्भव है।

(२) क्रोध पर नियंत्रण की इच्छा

क्रोध की कुछ परिभाषाओं पर चर्चा और इसके भयंकर दुष्परिणामों का सर्वेक्षण करने के बाद अब हम पूछ सकते हैं – "वस्तुत: किस प्रकार के लोग अपने क्रोध पर नियंत्रण पाना चाहते हैं?"

केवल वे समझदार लोग ही अपने क्रोध पर नियंत्रण करना चाहते हैं, जिन्हें अपने आन्तरिक तथा बाह्य जीवन में क्रोध के दुष्परिणामों का अनुभव करने के बाद यह विश्वास हो चुका है कि क्रोध ही उनका प्रमुख शत्रु है। कुछ ऐसे आस्तिक लोग भी हो सकते हैं, जो क्रोध को अपना परम शत्रु मानकर उससे छुटकारा पाने को कृत-संकल्प हैं। हम क्रोध को नियंत्रित करने के उपाय जानने के लिये पूर्व तथा पश्चिम के सच्चे सन्तों की सलाह लेने का प्रयास करेंगे।

जो लोग क्रोध पर नियंत्रण करना चाहते हैं, उन्हें यह निश्चित रूप से जान लेना होगा कि –

(क) जीवन में वे लोग जो कोई भी लौकिक या पारलौकिक उपलब्धि करना चाहते हैं, क्रोध उन सबका नाशक है।

(ख) सामयिक पागलपन कहलानेवाला क्रोध यदि अनियंत्रित रह जाय, तो स्थायी पागलपन बन सकता है। यह अपने घर में ही आग लगाकर सब कुछ भस्मीभूत कर सकता है।

(ग) क्रोध पर विजय पाना बहुत आसान नहीं है, परन्तु सम्भव है। इसे विधिवत् निरन्तर प्रयास और ईश्वर या अपने मन की कृपा से सम्पन्न किया जा सकता है।

(घ) अपने क्रोध पर विजय पाने के लिये स्व-प्रयास की जरूरत है, इसे दूसरों से नहीं प्राप्त किया जा सकता।

(ङ) अपने क्रोध पर विजय पाने के लिये हमें अपने मूल स्वभाव को पुनर्व्यवस्थित करके, अपने स्वयं के व्यक्तित्व में ही बदलाव लाना होगा।

(च) योग की साधना से क्रोध पर विजय सहज-स्वाभाविक रूप से ही सम्पन्न हो जाता है। यह बिना किसी विशेष प्रयास के, साधना के दौरान कहीं स्वयं ही हो जाता है।

(छ) जो लोग आध्यात्मिक जीवन को ही अपने जीवन का चरम लक्ष्य मानते हैं, वे लोग कहीं अधिक प्रबल रूप से क्रोध पर विजय पाने के इच्छुक होते हैं। इसके बावजूद ऐसी बात भी नहीं कि एक नास्तिक या अज्ञेयवादी क्रोध पर विजय नहीं पा सकता। यदि वह कुछ चीजों का अभ्यास करे, तो निश्चित रूप से वह भी इसे प्राप्त कर सकता है। सम्भव है कि वह ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास न करता हो, परन्तु उसका आध्यात्मिक आदर्शों में विश्वास आवश्यक है।

सार्वभौमिक आचार्य श्रीकृष्ण

क्रोध पर विजय पाने के सन्दर्भ में सबसे प्रामाणिक तथा उपयोगी उपदेश भगवद्-गीता में प्राप्त होते हैं। भारत के अनेक महान् धर्माचार्य, क्रोध के नियंत्रण के उपायों पर चर्चा करते समय गीता के कुछ उपदेशों को ही दुहराते हैं। कैथॅलिक सन्तों के उपदेश भी मानो गीता के विचारों को ही प्रतिध्वनित करते हैं। पाश्चात्य सन्तों के कुछ उपदेश सटीक रूप से विस्तारपूर्वक निर्देश देते हैं कि किस प्रकार इस क्रोध रूपी प्रच्छन्न शत्रु का पता लगाया जाय। तथापि उन उपदेशों का गीता की मूलभूत संरचना तथा दर्शन के साथ तालमेल बैठाना अत्यन्त आवश्यक है।

बीमारी के दौरान विभिन्न प्रणालियों द्वारा निर्दिष्ट औषधियों का एक साथ ही प्रयोग करना हितकर नहीं होता। इसी प्रकार हम विभिन्न धर्म-प्रणालियों की साधनाओं का यथेच्छा मिश्रण नहीं कर सकते। तथापि अपनी मूलभूत विश्वासों के विपरीत न जानेवाले अन्य धर्मों के दो-एक संकेत सहायक सिद्ध हो सकते हैं। ऐसा करने में परम विवेक का उपयोग करना होगा। उदाहरण के लिये – दो आस्तिक धर्म-प्रणालियों की साधनाएँ एक साथ चल सकती हैं, पर एक

* द्र. श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, सं. १९९९, खण्ड १, पृ. १३-१४

आस्तिक धर्म की साधना, किसी दूसरी नास्तिक दर्शन के निर्देशों के साथ समायोजित नहीं हो सकती।

गीता में श्रीकृष्ण ने 'क्रोध' का सात श्लोकों में वर्णन किया है। इन्हें एक साथ रखने पर, इस संकलन से उत्थित ज्ञान हमारे लिये सहायक सिद्ध हो सकता है –

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।। २/६२
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।। २/६३

– विषयों का चिन्तन करता हुआ व्यक्ति उनमें आसक्त हो जाता है, इस आसक्ति से उन विषयों को प्राप्त करने की कामना उत्पन्न हो जाती है और (उसमें बाधा आने पर) क्रोध पैदा होता है। क्रोध से बुद्धि भ्रमित हो जाती है, बुद्धि भ्रान्त होने पर (शास्त्र एवं आचार्यों के उपदेशों की) स्मृति लुप्त हो जाती है, स्मृतिलोप से (उचित-अनुचित) बुद्धि का नाश हो जाता है और बुद्धिनाश से मनुष्य का सर्वनाश हो जाता है।

अर्जुन उवाच -
अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः।।

अर्जुन ने कहा – हे वार्ष्णेय कृष्ण, मनुष्य किससे प्रेरित होकर, न चाहते हुए भी, मानो बलपूर्वक पाप-कर्मों में प्रवृत्त होता है?

श्रीभगवान् उवाच -
काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्।। ३/३६-७

भगवान बोले – रजोगुण से उत्पन्न होनेवाली यह कामना ही (उसकी पूर्ति में बाधा पड़ने से उत्पन्न होनेवाला) क्रोध है और यही वह (प्रेरक) तत्त्व है। यह महापेटू तथा महापापी है और संसार में इसी को तुम अपना परम शत्रु समझो।

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्।। १६/४

– आसुरी सम्पदों के साथ जन्म लेनेवालों में पाखण्ड, अहंकार, अभिमान, क्रोध, कठोरता तथा अविवेक प्रबल होते हैं।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः।। १६/१८

– दूसरों की निन्दा करनेवाले ये लोग अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध आदि का आश्रय लेकर अपने तथा दूसरों के शरीर में विराजमान मुझ (परमात्मा) से द्वेष रखते हैं।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्।।१६/२१

– काम, क्रोध तथा लोभ – ये तीन आत्मा का नाश करनेवाले नरक के द्वार हैं, अतः इन तीनों का त्याग कर देना चाहिए।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते।।१८/५३

– अहंकार, बल, गर्व, काम, क्रोध तथा संग्रह से मुक्त होकर, 'मेरे'पन से रहित व शान्त होकर वह ब्रह्मत्व की प्राप्ति में समर्थ हो जाता है।

इन श्लोकों में हमें क्रोध के उद्गम, स्वभाव, इसकी विध्वंसक क्षमता और परिणाम के साथ ही उस पर विजय पाने का उपाय भी बताया गया है। हमें बताया गया है –

(क) क्रोध, कामना तथा लोभ – विनाश की ओर ले जाते हैं।

(ख) क्रोध से भ्रान्ति और भ्रान्ति से स्मरण-शक्ति का लोप हो जाता है, स्मृति-लोप से विवेक-बुद्धि का नाश हो जाता है और बुद्धि-विवेक का नाश होने से व्यक्ति कहीं का भी नहीं रह जाता।

(ग) क्रोध मानवीय स्वभाव के आसुरी भाग का एक सदस्य है। बुरी भावनाओं की इस दुष्ट-मण्डली के अन्य सदस्य हैं – दम्भ, अहंकार, कठोरता, अज्ञान आदि और ये शोहदे कभी अकेले नहीं, बल्कि हमेशा एक साथ चलते हैं। यह सचमुच ही एक प्रबल गिरोह है। अतएव इन बर्बरों से निपटने के लिये हमें उनके पूरे गिरोह से भी अधिक दृढ़-संकल्प, साहसी, व्यावहारिक तथा कुशल बनना होगा। यद्यपि यह कार्य आसान नहीं है, तथापि भगवान हमें आश्वासन देते हैं कि क्रोध को जीता जा सकता है। वे एक महत्त्वपूर्ण संकेत भी देते हैं कि यह कैसे सम्भव हो सकता है।

(घ) भगवान कहते हैं – सबसे पहले यह स्थिर कर लो कि क्रोध तुम्हारा शत्रु है। जब तक तुम अपने शत्रु को शत्रु नहीं मानोगे, तब तक न तो तुम उसे हरा सकोगे और न ही तुम्हारे पास उसके साथ युद्ध करने के लिये इच्छा तथा उत्साह ही होगा। हमारी आधुनिक प्रवृत्ति है – तात्कालिक रूप से कुछ करना। जो व्यक्ति क्रोध को मनुष्य का शत्रु नहीं मानता, वह स्वयं अपने ही पाँव में कुल्हाड़ी मार रहा है। मनुष्य कामनाओं तथा क्रोध से प्रेरित होकर ही पाप करता है। अतः क्रोध एक निर्दोष असामान्य आचरण नहीं, बल्कि अनेक पापों का मूल कारण होने के कारण एक शत्रु है।

(ङ) भगवान बताते हैं कि हम वास्तविक रूप से कैसे इस बलवान शत्रु का सामना कर सकते हैं। वे हमें आश्वस्त करते हैं कि क्रोध रजोगुण से उत्पन्न होता है और उसे उसके मूल से ही उखाड़ना होगा। बुरी कामनाओं को त्याग देने से व्यक्ति शान्त हो जाता है और इस प्रकार अपने व्यक्तित्व में स्थित रजोगुण के साथ युद्ध करने के लिये आन्तरिक परिवेश को प्राप्त कर लेता है।

❖ (क्रमशः) ❖
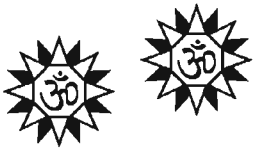
पातञ्जल-योगसूत्र-व्याख्या (७)
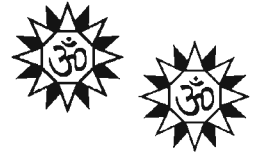
स्वामी प्रेमेशानन्द

(माँ श्री सारदा देवी के वरिष्ठ शिष्य स्वामी प्रेमेशानन्द जी ने १९६२ ई. के फरवरी माह में अपनी अस्वस्थता के दौरान वाराणसी में अपने सेवक को पातञ्जल योगसूत्र पढ़ाया था। इनके पाठों को सेवक एक नोटबुक में लिख लेते थे। बाद में सेवक – स्वामी सुहितानन्द जी ने उन पाठों का सुसम्पादित कर एक बँगला ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित कराया। 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ पातञ्जल योग जैसे गूढ़ विषय पर इस सहज-सरल व्याख्या का हिन्दी अनुवाद रायपुर आश्रम के स्वामी प्रपत्त्यानन्द ने किया है। – सं.)

हेयं दुःखमनागतम् ।।१६।।

– जो दु:ख अभी उत्पन्न नहीं हुआ है अर्थात् जिस दु:ख का भोग हमने नहीं किया है उसका त्याग करना चाहिये।

द्रष्टृ दृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ।।१७।।

– द्रष्टा और दृश्य के संयोग से दु:ख उत्पन्न होता है, इसलिये दुख का त्याग करना चाहिये।

व्याख्या – हमलोग बहुत समय तक इस दु:ख का भोग किये हैं। जिस दु:ख का भोग हम कर चुके हैं, उसके चिन्तन से कोई लाभ नहीं है। जिससे इस दु:ख का भोग नहीं करना पड़े, उसके लिये प्रयास करना पड़ेगा। मैं चैतन्यस्वरूप हूँ और प्रकृति के सभी कार्यों का साक्षी द्रष्टा मात्र हूँ। किन्तु भ्रम के कारण मैं स्वयं को दृश्य के साथ, प्रकृति के कार्यों के साथ एकत्व स्थापित कर लिया हूँ, यही दु:ख का कारण है।

प्रकाशक्रिया स्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ।।१८।।

– 'दृश्य' का अर्थ पंचभूत और इन्द्रिय होता है। ये प्रकाश, क्रिया और स्थितिशील हैं तथा पुरुष के भोग एवं मुक्ति के कारण हैं।

विशेषाविशेष लिङ्गमात्रलिङ्गानि गुणपर्वाणि ।।१९।।

– गुण की कुछ अवस्थायें हैं – विशेष, अविशेष महत् और प्रकृति।

व्याख्या – इस संसार की सभी वस्तुयें – हमारा मन, बुद्धि, इन्द्रिय, सब कुछ ही सत्त्व, रज और तम इस त्रिगुणमयी प्रकृति के द्वारा ही उत्पन्न हैं, इसलिये इस संसार की सकल सृष्टि त्रिगुणमयी है। प्रारम्भ में प्रकृति बिल्कुल निष्क्रिय एक जड़ वस्तु के रूप में रहती है। उससे समष्टि-बुद्धि उत्पन्न होती है। बुद्धि-वृक्ष से पंच तन्मात्रा रूपी फल की सृष्टि होती है और तन्मात्रा से इस स्थूल-जगत् की सृष्टि होती है। इस सृष्टि-क्रम को ठीक से समझ लेने पर, यह संसार क्या जादूगरी है, वह अनायास ही समझ में आ जाता है। इसलिये मनुष्य मुक्ति-प्राप्ति की चेष्टा करता रहता है।

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ।।२०।।

– द्रष्टा चैतन्य है। वह शुद्ध होकर भी बुद्धि के द्वारा देखता रहता है।

तदर्थ एव दृश्यस्याऽत्मा ।।२१।।

– चिन्मय चैतन्य पुरुष के लिये ही प्रकृति सब कार्य करती है।

व्याख्या – यद्यपि मैं चैतन्य (साक्षी) हूँ, तथापि मैं इस संसार को जानता हूँ। इसका कारण यह है कि मैं अपने स्वरूप को भूलकर संसार की द्रष्टा-बुद्धि के साथ एक हो गया हूँ। जब बुद्धि हमारे सम्मुख उपस्थित हुई, तब बुद्धि के समक्ष प्रकृति के जितने खेल थे, सभी उस बुद्धि में प्रतिबिम्बित हुये। मैं उसी प्रतिबिम्बयुक्त बुद्धि को देखते-देखते अपना सुध-बुध खो बैठा, बेसुध हो गया, अपना आत्मस्वरूप भूल बैठा। इसलिये मैं बोध करता हूँ कि प्रकृति का यह खेल मानो हमारे लिये ही चल रहा है।

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ।।२२।।

– जिन्होंने परमपद प्राप्त किया है, आत्मसाक्षात्कार किया है, उनके अज्ञान का नाश हो जाने पर भी, दूसरे लोगों में वह अज्ञानता विद्यमान रहती है।

व्याख्या – सांख्य-दर्शन के प्रणेता महर्षि कपिल जी कहते हैं – प्रत्येक जीव अविद्यारहित होने पर, पूर्णता प्राप्त कर मुक्त होकर निवास करता है। ऐसे अनेकों जीव हैं। एक दूसरे मत के अनुसार यदि सभी प्राणी ही मूलत: एक ब्रह्मस्वरूप हैं, तब तो एक-एक करके मुक्त नहीं हो सकते। किसी एक प्राणी की मुक्ति होने पर सभी प्राणियों की मुक्ति हो जायेगी। इस सिद्धान्त को 'एकजीववाद' कहते हैं। किन्तु महर्षि पतंजलि कहते हैं, जो साधक विद्या और अविद्या के आवरण को दूर कर देगा, वह अद्वितीय ब्रह्मस्वरूप हो जायेगा। किन्तु जो लोग माया के भीतर रहेंगे, वे बद्ध अवस्था का ही अनुभव करेंगे।

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः ।।२३।।

– दृश्यशक्ति और द्रष्टाशक्ति दोनों के स्वरूप की उपलब्धि का कारण संयोग है।

तस्य हेतुरविद्या ।।२४।।

– इस संयोग का कारण अविद्या है।

तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम् ।।२५।।

– अज्ञान का नाश होने पर पुरुष और प्रकृति का संयोग, सम्बन्ध नष्ट हो जाता है। यही द्रष्टा का कैवल्यपद में प्रतिष्ठित होना है।

अर्थात् तब द्रष्टा अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है।

व्याख्या – इस संसार की ऐसी सृष्टि का उद्देश्य क्या है? जीवों को इतना कष्ट देने से स्रष्टा को क्या लाभ होता है?

हमलोग संसार को अनेक भागों में विभक्त विचित्रमय देखते हैं। किन्तु ब्रह्म अपने अंग-प्रत्यंग को हिला-डुला-नचाकर देखते हैं। वे स्वयं-ही-स्वयं का अनुभव कर रहे हैं, अत: यह सृष्टि-लीला उनकी दृष्टि में बच्चों का खेल मात्र है।

एक जमींदार की एक वृद्धा माता शहर देखने गयीं। वहाँ वे एक कचहरी के मकान में रहने लगीं। इस मकान के सामने ही लड़कों के खेलने का मैदान था। एक दिन उस वृद्धा ने देखा कि लड़कों का एक दल, एक गोलाकार वस्तु लेकर एक दूसरे दल के पीछे दौड़ रहा है। लड़कों को खेल में उन्मत्त देखकर वृद्धा भयभीत होकर चिल्लाने लगीं और खेल बन्द करने के लिये घर के सभी लोगों को अनुरोध करने लगीं। वृद्धा का चिल्लाना सुनकर घर के सभी लोग उनके पास आ गये। यह गोलाकार वस्तु चमड़े से बनी गेंद है और लड़के पागल की तरह उन्मत्त होकर, जो प्रतिद्वन्द्विता कर रहे हैं, वास्तव में वह मात्र खेल है, उससे किसी की कोई हानि नहीं होगी – इस बात को बार-बार उन्हें समझाने का प्रयास करने पर भी वह वृद्धा किसी तरह भी इस खतरनाक खेल को सहन नहीं कर सकीं। इस प्रकार व्यर्थ शक्ति-क्षय करने का कोई कारण उन्हें ज्ञात नहीं हुआ। यह सृष्टि-स्थिति-प्रलय का कार्य भी हमलोगों को भयानक और निर्दयी के कार्य जैसा प्रतीत होता है। तभी स्वामीजी (तब नरेन्द्रनाथ) ने कहा था – "The Scheme of the universe is devilish. I could have created a better world !" – "इस विश्व की रचना मानो भूत-पिशाच ने की है। मैं स्वयं इससे अधिक श्रेष्ठ विश्व की रचना कर सकता था।" किन्तु जिन लोगों ने बच्चों का खेल देखा है, वे जानते हैं – बच्चे खूब धक्का-मुक्की करके, खेल समाप्त होने के बाद, हाथ-पैर धोकर, आराम से बैठकर जब खेल के बारे में गप-शप करते हैं, तब समझ में आता है कि खिलाड़ियों के लिये प्रतिद्वन्द्विता और धक्का-मुक्की का कार्य कितना आनन्दप्रद है। इस सृष्टि के खेल में भी जब कोई खिलाड़ी जीवनमुक्त हो जाता है, तब उसे अतीत के, पूर्व के लाखों जन्मों के सभी दु:ख-कष्ट, उसे बिल्कुल खेल जैसे, क्रीड़ा ही बोध होता है। इस खेल को नहीं खेलने से, खेल के बाद विश्राम का महत्त्व समझ में नहीं आता। इसीलिये विश्राम के महत्त्व को खेल समझाती है और विश्राम को खेलने की इच्छा होती है। जब जीवात्मा को यह बोध हो जाता है कि इस अनन्त सृष्टि की तुलना में ब्रह्म या उसका स्व-स्वरूप कितना बड़ा है। तब उसे सृष्टि की ओर, इस संसार की ओर देखने तक की इच्छा नहीं होती है। वह परमानन्द में, कैवल्य सुख में सर्वदा विभोर रहता है, निमग्न हो जाता है।

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपाय: ।।२६ ।।

– निरन्तर विवेक के अभ्यास से ही अज्ञान का नाश होता है। सदा विवेक का अभ्यास ही अज्ञान के नाश का कारण है।

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमि: प्रज्ञा ।।२७ ।।

– ज्ञानी के विवेकज्ञान के सात प्रकार के उच्चतम स्तर हैं।

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ।।२८ ।।

– योग के विभिन्न अंगों की उपासना करते-करते चित्तशुद्धि होने पर ज्ञान प्रकाशित होता है, उसकी अन्तिम सीमा विवेकख्याति है।

व्याख्या – चित्स्वरूप के आवृत होने का तात्पर्य है – मैं जो चित्, चैतन्य हूँ, उस अनुभव, बोध की ओर ध्यान न देकर अचित् को लेकर मतवाला हो जाना, मत्त हो जाना। हमलोग हमेशा ऐसा होते हुये देखते हैं। हमलोग सर्वदा ही देखते हैं कि एक माँ अपनी सुख-सुविधा का परित्याग कर सन्तान के लिये अपना प्राण देने को सदा ही प्रस्तुत रहती है। इस आत्मविस्मृति में भी हम ठीक पूर्ववत् ही रहते हैं, किसी प्रकार से भ्रम को दूर कर लेने पर ही हम समझ जायेंगे कि हमारा स्वरूप अटूट है, अविच्छेद्य है। बुद्धि के शुद्ध होने पर, यह समझने की क्षमता चली आती है कि मनुष्य का स्वरूप और कल्पित रूप – ये दोनों सम्पूर्णत: विपरीत वस्तु हैं, उसे ही 'विवेक' कहते हैं। (विवेक = वि - विच् +घञ्, विच् धातु का अर्थ होता है पृथक करना (to separate)।

इस विवेक के सम्पूर्ण रूप से उदय होने में बहुत समय लगता है। महर्षि पतंजलि कहते हैं कि विवेक प्रकाशित होने की अन्तिम सीमा के सात स्तर हैं। उनके द्वारा प्रदर्शित सिद्धान्त के अनुसार साधना या अभ्यास करते-करते जब ज्ञान (ब्रह्मज्ञान नहीं) के पूर्ण प्रकाश में विवेक सम्पूर्णरूप से प्रस्फुटित होता है, जाग्रत हो जाता है, तभी साधक मुक्ति को प्राप्त करता है।

यम-नियम-आसन-प्राणायाम्-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान समाधयोऽष्टावङ्गानि ।।२९ ।।

– यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, और समाधि – ये योग के आठ अंग हैं।

अहिंसा-सत्याऽस्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रह यमा: ।।३० ।।

– अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह – इन्हें यम कहते हैं।

❖ (क्रमश:) ❖

हिन्दूधर्म का विश्वकोष

(विगत ३१ मई २००८ को भूतपूर्व महामहिम राष्ट्रपति जी ने रामकृष्ण मठ, बेंगलोर द्वारा आयोजित, स्वामी हर्षानन्द जी द्वारा अँग्रेजी भाषा में लिखित हिन्दू धर्म के विश्वकोष के ३ खण्डों का विमोचन करते हुये, जो व्याख्यान दिया, प्रस्तुत है उसी का हिन्दी रूपान्तरण। सं.)

रामकृष्ण मठ, बेंगलोर के परिसर में आयोजित हिन्दू-धर्म -विश्वकोष के विमोचन समारोह में भाग लेते हुए मैं प्रेरणा का अनुभव कर रहा हूँ। उपस्थित संन्यासियों को मेरा प्रणाम तथा गण्यमान्य अतिथियों को मेरी शुभकामनायें। स्वामी हर्षानन्दजी द्वारा तीन खण्डों में विस्तृत हिन्दू धर्म का संक्षिप्त विश्वकोष उनके आजीवन परिश्रम का एक महत्वपूर्ण अवदान है। इस विश्वकोष के माध्यम से हिन्दू धर्म का भूतकाल वर्तमान से जुड़ता है और भविष्य की सृष्टि करता है।

ऐसी मान्यता है कि हिन्दू धर्म का विकास अब से ७,००० वर्ष पूर्व हुआ है। इस धर्म के मूलभूत ग्रन्थ चारों वेद मानव जीवन के सभी पक्षों – दर्शन, धर्म, नीतिशास्त्र, संस्कृति, कलायें, विज्ञान तथा साहित्य को निरन्त समृद्ध करते रहे हैं। मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह विश्वकोष विद्वानों, छात्रों तथा धर्मजिज्ञासुओं के लिये समान रूप से एक प्रामाणिक तथा शोध परक सन्दर्भ की सामग्री उपलब्ध करायेगा, और इस प्रकार हिन्दू धर्म विषयक उनके ज्ञान में वृद्धि लाकर समाज को और भी समृद्ध करेगा।

विश्वकोष – एक जीवन-कार्य की पूर्ति

ईश्वर न्याय-प्रेम तथा करुणा की प्रतिमूर्ति हैं। मैं इस विश्वकोष के प्रथम खण्ड में 'ईश्वर' शब्द की व्याख्या देख रहा था। वहाँ लिखा है – "हिन्दू ग्रन्थों में ईश्वर के गुणों का सविस्तार वर्णन मिलता है। वे सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान हैं। वे न्याय, प्रेम तथा सौन्दर्य की प्रतिमूर्ति हैं। वस्तुत: मनुष्य जिन भी दिव्य गुणों की कल्पना कर सका है वे उन सबकी प्रतिमूर्ति हैं। वे अपने सृष्ट जीवों पर अपनी कृपा, दया तथा आशीष की वर्षा करने को सदा तत्पर हैं। सच कहें तो उन्होंने इस विश्व का निर्माण ही इसीलिये किया है कि वे सभी जीवों पर अपनी कृपा की वर्षा करते हुये उन्हें क्रमश: वर्तमान से उच्चतर अवस्थाओं में विकसित करके उन्हें पूर्णता प्रदान करना। वे अपने भक्तों की स्तुति और प्रार्थनाओं से सहज ही प्रसन्न हो जाते हैं। परन्तु इन प्रार्थनाओं की पूर्ति इस सिद्धान्त के अनुसार होती है कि वह न तो विश्व के लिये अहितकर हो और न ही वह उस व्यक्ति के कर्मफल के विरुद्ध है।" जिस प्रकार स्वामीजी लोगों ने यहाँ ईश्वर को जीवन्त कर दिया है, यह अनुपम है। मैं प्रतिदिन जब नमाज पढ़ता हूँ, तो उस समय परम कल्याणकारी, परमदयालु तथा परम महिमामय के रूप में अल्लाह का स्मरण करता हूँ।

धर्म – इस विश्वकोष में मैंने हिन्दू धर्म की परिभाषा देखी, तो पाया कि धर्म ही विश्व-ब्रह्माण्ड का धारण तथा पोषण करता है। धर्म के अभाव में संसार का विनाश हो जाता है। धर्म के द्वारा ही जीवन की प्रत्येक अवस्था के लिये अलग-अलग कर्त्तव्य का निर्धारण किया गया है। जब मैं धर्म के विषय में सोचता हूँ, तो मुझे धर्म-विषयक एक कविता का स्मरण हो आता है।

जब हृदय में धर्म का स्फुरण होता है,
तो चरित्र में सौन्दर्य खिल उठता है,
जब चरित्र में सौन्दर्य खिल उठता है,
परिवार में सामंजस्य स्थापित हो जाता है,
जब परिवार में सामंजस्य स्थापित हो जाता है,
तो राष्ट्र अनुशासित हो जाता है,
जब राष्ट्र अनुशासित हो जाता है,
तो विश्व में शान्ति फैल जाती है ।।

इस प्रकार व्यक्ति के हृदय, चरित्र, राष्ट्र तथा विश्व के बीच एक सुन्दर सम्बन्ध जुड़ जाता है। समाज के सुव्यवस्था के लिये इसके विभिन्न घटकों के बीच सद्भाव स्थापित करना होगा। सम्पूर्ण समाज को नैतिक तथा सदाचारी बनाने के लिये हमें परिवार में नैतिकता शिक्षा में नैतिकता, सेवा में नैतिकता, आजीविका में नैतिकता, व्यवसाय तथा उद्योग में नैतिकता, प्रशासन तंत्र में नैतिकता, राजनीति में नैतिकता, सरकार में नैतिकता, कानून व्यवस्था में नैतिकता और सरकार में नैतिकता लाने की जरूरत है। इस सन्दर्भ में मैं अपने एक अनुभव का वर्णन करना चाहूँगा, जब मुझे मेरठ के सुख तथा आनन्द से परिपूर्ण एक संयुक्त परिवार के बीच दिव्य परिवेश में कुछ समय बीतने का अवसर मिला था।

मुझे पता चला कि मेरठ में ६०-७० सदस्यों का एक ऐसा सफल संयुक्त परिवार निवास करता है, जो गृहस्थाश्रम की परिकल्पना का एक उदाहरण है। इस परिवार की व्यवस्था तीन महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों पर टिकी हुई है –

(क) प्रत्येक सदस्य को ईश्वर की प्रतिमूर्ति मानकर उससे व्यवहार करना।

(ख) ईश्वर की कृपा पर अटूट विश्वास।

(ग) ईश्वर के नाम पर जप पर सुदृढ़ निर्भरता।

मैंने मेरठ के इस धर्मप्राण परिवार के विषय में काफी कुछ पढ़ रखा था, अत: अपने हाल की मेरठ यात्रा के दौरान मैं इस परिवार से मिला। मैंने देखा कि इस परिवार के सदस्यों में दादा-दादियों से लेकर पोते-पोती तक विद्यमान हैं

तथा मेरठ के विभिन्न अंचलों से हर आयु वर्ग के सम्बन्धी भी जुड़े हैं। उन लोगों ने मुझे बताया कि इस परिवार में शामिल होकर उन लोगों का जीवन भी रूपान्तरित हो गया। मैंने ध्यान से देखा कि यह रूपान्तरण कैसे सम्भव हो सका है। जब मैंने उन लोगों को भजन गाते हुये देखा तो पाया कि वे लोग भजन की हर पँक्ति का रसास्वादन कर रहे थे और उत्साह से भाव विभोर हो रहे थे। दूसरे शब्दों में, प्रार्थना के दौरान सम्पूर्ण परिवार एक नये ही प्रकार के आनन्द में ओत-प्रोत हो रहा था। जब इस परिवार के सदस्य मुझसे घुल-मिल गये, तब मुझे ज्ञात हुआ कि वे लोग अपना हर कार्य ईश्वर को प्रसन्न करने के लिये करते हैं। उनके सारे कार्य घनिष्ठ रूप से दिव्य चेतना के साथ जुड़े हुये हैं।

उदाहरणार्थ, बगीचे में काम करनेवाला व्यक्ति यह सोचता है कि वह प्रभु की पूजा हेतु फूल पैदा करने के लिये ही बागवानी कर रहा है। मन्दिर को सजाने वाला सोचता है कि वह प्रभु के कक्ष का शृंगार कर रहा है। परिवार की कीर्तन-मण्डली ऐसे भजन तथा सुर-लय की रचना करती है, जो गायन-वादन के माध्यम से एक अलौकिक परिवेश की सृष्टि करता है। उत्साहपूर्वक ईश्वर का गुणगान करने के कारण ही उन लोगों के मुख से एक दिव्य स्वर-धारा प्रवाहित होती है। परिवार के मुखिया परिवार के हर सदस्य को तथा उनके यहाँ निवास करने वाले हर व्यक्ति को ईश्वर की प्रतिमूर्तियों के रूप में देखते थे। जहाँ तक उनकी अजीविका का प्रश्न है, चाहे कोई विद्या-अर्जन कर रहा हो अथवा धनोपार्जन में लगा हो, हर व्यक्ति को ऐसा महसूस होता था कि परिवार के दिव्य परिवेश ने कार्य के हर क्षेत्र में उसकी कार्यक्षमता बढ़ा दी है, और उन्हें सुख-सन्तोष से परिपूर्ण कर दिया है।

इस तरह की दिव्य परिवेश की सृष्टि करने वाली संयुक्त-परिवार-व्यवस्था निश्चित रूप से देश के अनेक स्थानों पर विभिन्न धार्मिक समुदायों के बीच विद्यमान होगी। हमारा विश्वास है कि घरों में शान्ति तथा सामंजस्य स्थापित हो जाय, तो पूरे देश में अनुशासन आ जायेगा और इसके फलस्वरूप विश्व में शान्ति फैल जायेगी।

प्रिय मित्रो, रामकृष्ण मिशन के साथ मेरा विशेष लगाव है। मैंने इसके अनेक आश्रमों, विद्यालयों, अस्पतालों तथा अनाथालयों का परिदर्शन किया है और स्वामी विवेकानन्द के जन्म-दिवस पर देश के विभिन्न भागों में इसके द्वारा आयोजित कार्यक्रमों में भी मैंने अनेकों बार भाग लिया है। रामकृष्ण मिशन सर्वधर्मों के सामग्रिक शोध पर आधारित ग्रन्थों के लिये भी प्रसिद्ध है। श्रीरामकृष्ण तथा स्वामी विवेकानन्द की आध्यात्मिक उक्तियों से मैं सर्वदा ही प्रेरणा लेता रहा हूँ। श्रीरामकृष्ण का एक उपदेश है – "रत्नाकर (समुद्र) में अनेक रत्न हैं, पर तुम्हें यदि एक ही डुबकी में रत्न न मिले, तो समुद्र को रत्न से रहित मत समझो। इसी प्रकार यदि थोड़ी साधना करने से ईश्वर के दर्शन न हो, तो निराश नहीं होना चाहिये। धैर्यपूर्वक साधना करते रहो, कभी-न-कभी ईश्वर की कृपा अवश्य होगी।" यह सुन्दर उपदेश कितने उत्तम ढंग से बताता है कि प्रत्येक मनुष्य को अपने कार्यों में निष्ठापूर्वक लगे रहना चाहिये। स्वामी विवेकानन्द का सन्देश अनुपम है और दुनिया को इसकी जरूरत भी है; वे कहते हैं – "मैं अपने नाम-यश का प्रचार नहीं चाहता हूँ। मैं केवल इतना ही चाहता हूँ कि मेरे विचारों को कार्य रूप में परिणत किया जाय।" स्वदेश और विदेश में फैले रामकृष्ण मिशन के सैकड़ों केन्द्र इन सन्देशों के प्रचार-प्रसार में निरत हैं।

इस प्रशान्तिमय परिवेश में मैं अपनी विनम्र शान्ति-प्रार्थना की आवृत्ति करता हूँ –

हे सर्वशक्तिमान प्रभो !
आप हमारे देशवासियों के मन में
ऐसे विचारों तथा कार्यों की सृष्टि करें,
जिससे वे परस्पर सद्‌भावपूर्वक रह सकें,
हे सर्वशक्तिमान प्रभो !
आप हमारे देशवासियों को
सदाचारपूर्ण जीवन-पथ प्रदान करें,
क्योंकि सदाचार ही चरित्र-बल पैदा करता है।
आपकी सहायता से हमारे देश के सभी धार्मिक नेता,
जन-साधारण के भीतर ऐसी क्षमता उत्पन्न करें,
जिसके द्वारा लोग भेद-भाव उत्पन्न करने वाली
शक्तियों का सामना कर सकें।
विभिन्न मतवादों में निहित गुणों के देखने
की प्रवृत्ति विकसित करने में,
आप मेरे देशवासियों की सहायता करें और
व्यक्तियों, संस्थाओं तथा राष्ट्रों के बीच की शत्रुता को
मैत्री तथा सामंजस्य में परिणत कर दें।
हे सर्वशक्तिमान प्रभो,
आतंकवाद मानवता के लिये अभिशाप है।
निर्दोष लोगों के प्राणनाशक सचमुच ही पागल हैं।
निरीह लोगों की पीड़ा,
इन क्रूर लोगों के मन में करुणा की सृष्टि करे।
हे प्रभो ! हमारे देशवासियों को
आप ऐसा वरदान दीजिये कि
वे हमारे देश को एक शान्तिपूर्ण तथा
समृद्ध राष्ट्र में रूपान्तरित करने के लिये
निष्ठापूर्वक कार्य में लग जायँ।

स्वामी हर्षानन्द जी द्वारा लिखित 'हिन्दू धर्म का विश्वकोष' की पहली प्रति प्राप्त कर मुझे जो हर्ष हुआ, मेरा अभिभाषण उसी की अभिव्यक्ति थी।

(शेष अगले पृष्ठ पर)

मन की एकाग्रता ही योग है

स्वामी रामकृष्णानन्द

(श्रीरामकृष्ण के एक प्रमुख संन्यासी-शिष्य द्वारा लिखा गया यह लेख योग के यथार्थ स्वरूप पर सुन्दर प्रकाश डालता है। यह मायावती के अद्वैत आश्रम द्वारा प्रकाशित The Message of our Master नामक पुस्तक से गृहीत तथा अनुवादित हुआ है। – सं.)

इस जगत् का प्रत्येक व्यक्ति कमोबेश योगी है, भले ही वह इसे जाने, या न जाने। एक बोअर (अफ्रीकन आदिवासी) ने एक बार कुछ विद्वानों को गद्य तथा पद्य पर चर्चा करते सुना और सोचने लगा कि ये सब कुछ उसकी धारणा-शक्ति के अतीत कुछ बड़ी ऊँची चीजें होंगी, परन्तु उसे यह जानकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि वह जीवन भर गद्य में ही बातें करता रहा था। इसी प्रकार जगत् के अधिकांश लोगों के मन में 'योग' के विषय में ऐसी ही कुछ धारणा है। वे सोचते हैं कि कुछ चुनिंदा लोग ही इसके अधिकारी हैं और वे ही लोग 'योगी' कहलाने के योग्य हैं। उनकी ऐसी धारणा का कारण यह है कि वे इस शब्द का ठीक तात्पर्य नहीं जानते।

तो फिर इस 'योग' शब्द का क्या अर्थ है? इसका सीधा अर्थ है – मन को किसी एक विचार, मूर्ति या वस्तु पर स्थिर या एकाग्र करना। क्या मन को एकाग्र किये बिना व्यक्ति के लिये किसी क्रिया को सम्पन्न कर पाना सम्भव है? जब कभी किसी बालक को कोई पाठ समझने की आवश्यकता होती है, तो उसे उस पाठ पर मन को एकाग्र करना पड़ता है और केवल तभी वह उस पर अधिकार पा सकता है। एक सुनार, एक तीरन्दाज, एक वैज्ञानिक, एक चित्रकार, एक खगोलशास्त्री और यहाँ तक कि किसी व्यावसायिक क्षेत्र के किसी विशेषज्ञ को भी यथार्थ रूप से योगी कहा जा सकता है; क्योंकि ये सभी जानते हैं कि किस प्रकार सब कुछ भूलकर अपने इच्छित विषय पर मन को एकाग्र किया जाय और इतना एकाग्र किया जाय कि यदि एक हाथी भी उसके पास से होकर गुजर जाय, तो उसे उसका जरा भी भान तक न हो।

ऋषियों द्वारा यह 'योग' शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है, परन्तु यहाँ हम उनमें से केवल चार पर ही चर्चा करेंगे – (१) जीवात्मा का परमात्मा से योग, (२) विचारों के प्रवाह को किसी एक विषय की ओर प्रवाहित करना, (३) मन की सारी वृत्तियों का संयम करना और (४) मन को किसी एक बिन्दु पर केन्द्रित करना। इनमें से किसी भी प्रकार से योग के उपयोग का एक ही लक्ष्य तथा उद्देश्य है – और वह है आत्मज्ञान। इस आत्मज्ञान की उपलब्धि के अनेक मार्ग हैं। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये योगीगण विभिन्न पद्धतियों का अवलम्बन करते हैं, और कभी अपने मार्ग में अलौकिक सिद्धियों जैसी कई प्रलोभक वस्तुओं की भी प्राप्ति करते हैं। जो लोग अपने आदर्श को भूलकर इस सिद्धियों द्वारा भ्रमित हो जाते हैं, उनकी प्रगति रुक जाती है।

ऋषिगण लक्ष्य-प्राप्ति के विभिन्न साधनों को आम तौर पर चार श्रेणियों में विभाजित किया करते हैं; यथा – मंत्रयोग, लययोग, राजयोग तथा हठयोग। विभिन्न ऋषियों द्वारा विभिन्न कालों में इन मार्गों का आविष्कार हुआ था। मंत्रयोग का अर्थ है – ईश्वर या सत्य के प्रतीक रूप में किसी एक शब्द या अक्षर के जप द्वारा एकाग्रता की उपलब्धि। लययोग का अर्थ है – ध्येय वस्तु में मन का डूब जाना। हर व्यक्ति प्रति क्षण अभ्यास करता है, परन्तु हर बार यह अति अल्प काल के लिये ही होने के कारण उसका कोई सुफल नहीं होता। इस लययोग की मैं और भी स्पष्ट रूप से व्याख्या करता हूँ। जब कभी हम अपने कमरे में बैठकर घोड़े आदि किसी वस्तु की कल्पना करते हैं, तो वह सहज भाव से हमारे मनश्चक्षुओं के सामने प्रकट हो जाता है। वह घोड़ा आया कहाँ से? कोई वास्तविक घोड़ा न होने के बावजूद मेरे समक्ष एक घोड़ा उपस्थित हो जाता है। इससे स्वाभाविक निष्कर्ष निकलता है कि उस घोड़े के निर्माण हेतु मन के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु उपलब्ध नहीं है, अत: मन ही वह वस्तु है जिसके द्वारा इस काल्पनिक घोड़े का निर्माण हुआ, अथवा दूसरे शब्दों में – मन ने स्वयं को ही घोड़े में रूपान्तरित कर लिया। इससे यह पता चलता है कि जब कभी हम किसी वस्तु की कल्पना या चिन्तन करते हैं, तो उसी में परिणत हो जाते हैं। अत: जो व्यक्ति ईश्वर का चिन्तन करता है, वह वस्तुत: ईश्वर ही बन जाता है। केवल ऐसे लोग ही लययोग का लाभ उठा पाते हैं, जबकि बाकी लोग सामान्य संसारी जीव ही रह जाते हैं।

राजयोग का मूल तत्त्व है – मन तथा श्वांस को संयमित करना। मैं बताता हूँ कि मन के नियंत्रण हेतु क्यों श्वांस का नियंत्रण आवश्यक है। जब कभी हम गहराई से सोचते हैं, तो हमारी श्वांस की क्रिया रुक सी जाती है। चूँकि श्वांस के इस प्रकार रुकते ही सहज भाव से हमारा मन एकाग्र हो

पिछले पृष्ठ का शेषांश

आध्यात्मिकता के माध्यम से मनों के बीच एकता स्थापित करने के लक्ष्य में सफलता हेतु मैं रामकृष्ण मिशन के प्रति अपनी शुभकामनाएँ अर्पित करता हूँ।

ईश्वर आप सब पर कृपा करें! ❑❑❑

जाता है, इससे यह निष्कर्ष निकाला गया कि श्वांस को रोकने तथा नियंत्रित करने से मन निश्चित रूप से एकाग्र हो जायेगा। इस प्रक्रिया को प्राणायाम कहते हैं। अत: राजयोग में इन दो चीजों का अभ्यास किया जाता है।

अब हम देखेंगे कि हठयोग क्या है। मार्कण्डेय तथा गोरखनाथ नामक दो ऋषियों ने सर्वप्रथम इस पद्धति की शिक्षा दी। ये दोनों पद्धतियाँ समान नहीं हैं, क्योंकि गोरखनाथ की पद्धति में योग के छह अंग हैं, जबकि मार्कण्डेय ने आठ अंगों का उल्लेख किया है और पतंजलि का भी यही मत है। गोरखनाथ द्वारा उल्लिखित छह अंग हैं – आसन, प्राणायाम, मन को समस्त बाह्य विषयों से खींचना, उसे एक निश्चित सीमा के भीतर ही आबद्ध रखने का प्रयास करना, ध्यान और समाधि की अवस्था – जिसमें बाह्य जगत् की चेतना का लोप हो जाता है। हठयोगी अपने स्वास्थ्य के बारे में विशेष सावधान रहता है, क्योंकि एकाग्रता के लिये शरीर का स्वस्थ रहना आवश्यक है। प्रारम्भ में वे लोग स्वास्थ्य को एक विशेष लक्ष्य-प्राप्ति का साधन मानते थे, परन्तु अब उनमें से अनेक इसी को अपना लक्ष्य मानने लगे हैं और इस कारण यह प्रणाली दूषित हो गयी है। फिर आज के युग में यदा-कदा ही कोई अच्छा हठयोगी दीख पड़ता है।

अब प्रश्न उठ सकता है कि हम अपने मन को भला एकाग्र ही क्यों करें? इससे हमें क्या लाभ हो सकता है? क्यों हम अपने इन्द्रियों की जागतिक विषयों के सम्पर्क में आने से रोकें और इस प्रकार जगत् में सबके लिये सुलभ सुखों से अपने को वंचित करें? इसके उत्तर में हम यही कह सकते हैं कि प्रत्येक सुख के साथ उसका समतुल्य दुख भी होता है। इन्द्रियों का कोई भी सुख शाश्वत नहीं होता, उसका प्रारम्भ होता है और अन्त भी होता है। प्रत्येक व्यक्ति सर्वदा सुखी रहना चाहता है और सुख जब उसके सामने से स्वप्न के समान चला जाता है, तब वह अत्यन्त दुखी हो जाता है। समस्त जागतिक सुखों के साथ ऐसा ही होता है, अत: वे भला वास्तविक सुख कैसे दे सकते हैं? वस्तुत: वे सुख का रूप धारण किये दुख या मित्र का मुखौटा पहने शत्रु ही हैं। इस कारण वे और भी अधिक खतरनाक हैं। सभी बुद्धिमान लोगों का कर्तव्य है कि वे समस्त भ्रमों से छुटकारा पा लें। केवल यही उन्हें सुरक्षित रख सकता है और प्रत्येक वस्तु को उसके सही रूप में दिखा सकता है। इसके अतिरिक्त इन्द्रिय-सुखों में आसक्त हुआ व्यक्ति अपनी इन्द्रियों, अपनी कामनाओं तथा अपनी बुभुक्षाओं का दास बना रहता है। एक दास क्या सुखी रह सकता है? उसका अपना कोई व्यक्तित्व नहीं रहता, वह इन्द्रियों से बँधा रहता है और उसी प्रकार उनके अधीन रहता है, जैसे एक दास अपने दुराचारी तथा अत्याचारी स्वामी के अधीन रहता है। स्वाधीनता में ही सच्चा सुख है। जब मुझ पर अधिकार जतानेवाला कोई भी नहीं रह जाता, जब मैं अपने आस-पास के सब कुछ का स्वामी हो जाऊँगा, केवल तभी मैं सच्चे सुख का आस्वादन कर सकूँगा। स्वाधीनता की उपलब्धि में ही सुख की उपलब्धि निहित है। अतएव इन्द्रियपरता कभी सुख नहीं दे सकती। उसका स्थान अन्यत्र है। जब कोई व्यक्ति अपनी सारी इन्द्रियों का स्वामी बन जाता है और उनके चंगुल से छूट जाता है, तभी उसे सच्चे सुख का आस्वादन मिलता है और वह योग के क्षेत्र में प्रवेश करता है। ज्यों-ज्यों वह उसमें आगे बढ़ता है, त्यों-त्यों क्रमश: सर्वज्ञ हो जाता है, बृहत्तम जीवन का उपभोग करता है और उसके अन्दर यह क्षमता आ जाती है कि कितनी भी अवधि तक बिना भोजन के अपनी शरीर-यात्रा चला सकता है – वह क्रमश: अधिकाधिक स्वाधीन और इसके फलस्वरूप अधिकाधिक सुखी होता जाता है।

इस संसार में मनुष्य ने जो कुछ भी सीखा है, उसे निश्चित रूप से किताबों से नहीं, अपितु प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रकृति से ही सीखा है। पुस्तकें – उसकी प्रकृति-विषयक अनुभूतियों के संकलन मात्र हैं। अत: वस्तुत: प्रकृति ही हमारी शिक्षिका है। जब प्रकृति हमें शिक्षा देती है, तब हम वास्तविक विद्वान् हो जाते हैं और उसके द्वारा न केवल अपने लिये अपितु दूसरों के साथ बाँटकर उपभोग करने के लिये कुछ उपलब्धि करते हैं। जेम्स वाट ने जब अपने सामने उबल रहे केतली के जल से निकल रहे भाप के गुणों का अध्ययन किया, तो उसने मानवीय प्रगति में कितना बड़ा अवदान किया। बेंजामिन फ्रैंकलिन ने पतंग उड़ाकर बादलों में विद्युत् की उपस्थिति का पता लगाया और आज हम देखते हैं कि बिजली हमारी सड़कों को आलोकित कर रही है, हमारी गाड़ियाँ खींच रही है और क्षण भर में ही हमारा सन्देश विश्व के एक कोने से दूसरे कोने तक पहुँचा देती है।

हमारे भारतीय योगियों ने बड़ी गहराई से प्रकृति की पुस्तक का अध्ययन किया था और आखिरकार उन साधनों को खोज लिया, जो उन्हें प्रकृति के परे ले जा सकती थीं। मनुष्य की आन्तरिक प्रकृति का अध्ययन करके वे सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान बन गये थे। मनुष्य सर्वज्ञ बन सकता है, लगता है यह बात उन्होंने उन्नतोदर (कानवेक्स) लेंस के गुणों से सीखी थी। सामान्य तौर पर सूर्य की किरणों में जलाने की क्षमता नहीं होती, परन्तु जब उन्हें एक लेंस के माध्यम से केन्द्रित किया जाता है, तब वे वस्तुओं को प्रज्वलित कर देती हैं। सूर्य की बिखरी हुई किरणों को एक ही बिन्दु पर केन्द्रित करके उन्हें एकाग्र करने से यह प्रज्वलन क्षमता आ जाती है। एक ही बिन्दु पर एकाग्र किये जाने पर सूर्य की किरणों में जलाने की क्षमता आ जाती है। इस तथ्य से योगी को सूझा कि चूँकि मन विभिन्न इन्द्रियों के माध्यम से

बिखरा हुआ है, अत: इसमें बाह्य जगत् में चल रही घटनाओं को जानने की, और वह भी केवल आंशिक रूप से जानने की साधारण क्षमता मात्र है; यदि वह मन को बाहर के सारे व्यर्थ दौड़-भाग से खींचकर, उसे किसी एक विचार या बिन्दु पर एकाग्र कर सके, तो इसकी शक्ति भी सूर्य की किरणों के समान ही अत्यधिक बढ़ जायेगी और तब यह इन साधारण चीजों के साथ ही अनेक असाधारण चीजों को भी जान सकेगा। उसने इसका प्रयोग करके देखा और सफल हुआ। मन की शक्ति में अत्यन्त वृद्धि लाने की बात को लेंस के अतिरिक्त नदी की धारा के स्वभाव से भी समझा गया। यदि हम एक बहती हुई नदी के सामने एक बाँध बना लें और उस बाँध में केवल एक छोटा-सा ही छेद रखें, तो उस छेद से निकलनेवाली जलधारा नदी की सामान्य धारा की अपेक्षा हजारों-गुना अधिक शक्ति के साथ बहेगी। इससे योगी को यह संकेत मिला कि यदि मन के बाकी सारे मार्गों को बन्द करके, उसे केवल एक मार्ग से ही प्रवाहित किया जाय, तो इसे अब तक अज्ञात शक्तियों की प्राप्ति हो जायेगी। इस विधि से योगी को मन की एकाग्रता से उत्पन्न होनेवाली असाधारण शक्तियों के बारे में जानकारी मिली।

योग की साधना प्रारम्भ करने के इच्छुक लोगों के लिये ऋषियों ने निम्नलिखित सलाह दिये हैं। योगी को कंकड़-पत्थर से रहित समतल तथा स्वच्छ स्थान में ध्यान करने बैठना चाहिये। उसका परिवेश आनन्दपूर्ण तथा उसके हृदय के खूब अनुकूल हो। कोई भी बुरा दृश्य उसके नेत्रों को पीड़ित न करे। कोई भी बुरी ध्वनि उसके कानों को विचलित न करे। जब कोई व्यक्ति तन्द्रा की अवस्था में रहता है, उस समय यदि कोई सहसा आवाज करके उसे क्षुब्ध करे, तो उसकी निद्रा चली जाती है और इस कारण उसे बड़ा कष्ट होता है; उसी प्रकार जब व्यक्ति अर्ध-एकाग्रता की अवस्था में रहता है, तो सहसा होनेवाली कोई आवाज अथवा कोई भयावह या अप्रिय दृश्य उसे ऊँचाई से नीचे ले आता है। इसके फलस्वरूप उसके मन में होनेवाली पीड़ा का भला कौन वर्णन कर सकता है ! इसी कारण प्रारम्भिक साधक के लिये एक प्रिय तथा निर्जन स्थान की जरूरत है।

हमारे दो नेत्रों के अतिरिक्त योगी एक तीसरे नेत्र का भी उल्लेख करते हैं। दोनों बाह्य आँखें केवल सामने की चीजें ही देख पाती हैं, परन्तु यह तीसरी आँख यह भी देख पाती है कि भीतर में क्या हो रहा है या फिर दोनों नेत्रों की सीमा के परे सुदूर स्थानों में क्या हो रहा है ! यह तीसरा दिव्य नेत्र कहलाता है और दोनों भौंहों के बीच में स्थित होता है। इस तीसरे नेत्र को खोलना ही योगी का उद्देश्य है। जब मन शान्त हो जाता है, जब मन से कामनाओं-वासनाओं का निर्मूलन हो जाता है, तब यह तीसरा नेत्र खुल जाता है, जिससे योगी को अनेक असाधारण वस्तुएँ देखने की क्षमता मिल जाती है। उसे चिर शान्ति की प्राप्ति होती है। उसे आत्मा का साक्षात्कार हो चुका है। माया अथवा भ्रान्ति अब उसे प्रभावित नहीं कर सकती। पुराने आदमी की मृत्यु हो जाती है और उसके स्थान पर ईश्वर का उत्थान होता है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के पूर्व योगी को अनेक अलौकिक अनुभूतियाँ होती हैं, दिव्य दर्शन होते हैं; वह दिव्य रूपों को देखता है, दिव्य गन्धों को ग्रहण करता है और दिव्य वाणी का श्रवण करता है। कभी-कभी उसे अपने शरीर के अन्दर से ही घण्टी या बाँसुरी बजने की आवाज सुनाई देती है। कभी-कभी वह अपने हृदय-कमल पर विराजमान इष्ट का दर्शन करता है। वह और भी बहुत-कुछ देखता है। इन घटनाओं की व्याख्या करना आसान नहीं है। परन्तु जब कोई भाग्यशाली व्यक्ति इन अलौकिक दर्शनों को पाकर धन्य होता है, तब समझ लेना चाहिये कि वह अपने लक्ष्य के निकट पहुँच चुका है।

सृष्टि के आदि से मानव-जाति ने अब तक जो भी प्रगति या सफलता प्राप्त की है, वह सब मन की एकाग्रता से ही सम्भव हो सकी है। हमारी सभ्यता के प्रारम्भिक काल के नायक-गण वास्तविक योगी थे। हर नई खोज, प्रत्येक नया आविष्कार विशुद्धत: एकाग्रता का ही फल है। एक कवि, एक दार्शनिक, एक वैज्ञानिक, एक योद्धा – सभी को पहले योगी होना पड़ेगा, केवल तभी वे (अपने क्षेत्र में) महान् हो सकेंगे। यद्यपि ये लोग योगी जैसे नहीं दिखेंगे, पर वस्तुत: वे योगी ही होंगे। एक गुलाब को चाहे जिस भी नाम से पुकारो, पर इस कारण उसकी सुगन्धि में कोई कमी नहीं आयेगी। आप सभी को अच्छे योगी बनना होगा, केवल तभी आप मानव-जाति के एक आदर्श व्यक्ति होंगे। आप जीवन की चाहे जिस भी अवस्था में हों, यदि आप अपने मन को एकाग्र कर सकते हैं, तो आप निश्चित रूप से उस क्षेत्र में सर्वश्रेष्ठ सिद्ध होंगे। अतएव, क्या यह सबका कर्तव्य नहीं है कि हर व्यक्ति इस मानसिक एकाग्रता की प्राप्ति हेतु कठोर प्रयास करे? एकाग्रता – भौतिक तथा आध्यात्मिक – दोनों ही प्रकार की असीम सम्पदा की जननी है। ❑❑❑

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

(११५) मैं कहता आँखियन की देखी

इक्ष्वाकु कुल में निमि नामक एक राजा हो गये हैं। वे बड़े ही धर्मज्ञ, गुणी और प्रजावत्सल थे। वे गौतम मुनि के आश्रम के पास की एक कुटिया में निवास करते थे। एक बार उन्होंने अपने कुलगुरु महर्षि वशिष्ठ से यज्ञ कराने का अनुरोध किया। वशिष्ठजी ने बताया कि इन्द्र ने पहले ही आयोजन कर रखा है, इसलिये वे यज्ञ सम्पन्न कराने में असमर्थ हैं।

तब निमि ने गौतम मुनि से अनुरोध करके उनसे अपना यज्ञ प्रारम्भ कराया। यह बात जब वशिष्ठ ऋषि को ज्ञात हुई, तो उन्होंने इसे अपना अपमान समझा और क्रोध के आवेश में शाप दिया कि निमि का जीव उनकी शरीर से अलग हो जाये और वे विदेह बन जाये। इधर यज्ञ पूरा होने पर देवतागण यज्ञ-स्थल पर आये और उन्होंने गौतम मुनि से वर माँगने को कहा। मुनि ने कहा – "यदि आप वर देना चाहते हैं, तो राजा निमि को इसी देह में जीवित करा दें।" देवताओं ने 'तथास्तु' कहा। किन्तु निमि की जीवात्मा ने जीवित रहने से अस्वीकार किया और कहा – "मैं देह के बन्धन में बँधा रहना नहीं चाहता। मैं भगवान की भक्ति करना चाहता हूँ।" इस पर देवताओं ने कहा – "भगवती माता ही आपकी इच्छा पूरी करने में सक्षम हैं।"

राजा निमि ने भगवती जगदम्बा का स्तवन करके उन्हें प्रसन्न किया। माता द्वारा वर माँगने को कहने पर निमि ने कहा – "माँ, आँख की पुतली दृश्य जगत् का बोध कराती है। ईश्वर हर प्राणी के हृदय में बसे हुये हैं। उन्हें देखने के लिये अन्त:चक्षु की जरूरत होती है। उनके चौबीस घण्टे दर्शन करना आसान नहीं है। यदि आप वर देना चाहती हैं, तो यही वर दें कि मैं इस जीवन से मुक्त होकर समस्त प्राणियों के नेत्रों में वास कर सकूँ।"

देवी भगवती ने कहा – "यह सच है कि प्राणियों को भगवान ही नहीं, बल्कि किसी भी व्यक्ति या वस्तु को सतत देखना सम्भव नहीं है। सभी चराचर प्राणियों के नेत्रों में तुम्हारे रहने से उन्हें पलक झपकाने की शक्ति प्राप्त होगी। देवतागण इसके अपवाद होंगे। उनकी पलकें नहीं झपकेंगी। तुम्हारे नाम के आधार पर देवतागण अनिमिष कहलायेंगे और पलक झपकाने का समय 'निमिष' कहलायेगा।

(११६) भेष फकीरी जो करे

माता की अनुमति लेकर राजा गोपीचन्द ने राज-पाट का त्याग करके गुरु से दीक्षा ली। अगले ही दिन वे अन्य शिष्यों के साथ भिक्षा के लिये निकल पड़े। अचानक उन्हें माँ की याद आई। वे महल के द्वार पर पँहुचे और उन्होंने – "भिक्षां देहि" की आवाज लगाई। द्वारपालों से पुत्र के आने का समाचार सुन माता द्वार पर आई और बोली – "क्या तू जानता नहीं कि अब तू मेरा बेटा नहीं रहा, बल्कि एक जोगी के रूप में, रानी से नहीं बल्कि एक गृहस्थ से भिक्षा माँग रहा है। मैं तुझे धन-धान्य की भिक्षा नहीं दूँगी, क्योंकि धन-धान्य शाश्वत नहीं है। मैं तुझे ३ बातों की भिक्षा दूँगी। वे हैं – मजबूत किले में रहना, स्वादिष्ट भोजन करना और नरम-मुलायम बिस्तर पर सोना।"

गोपीचन्द ने सुना, तो उन्हें यह विचित्र लगा। वे बोले – "माँ, मैंने सुख-वैभव का त्याग कर दिया है। फिर भी तुम मुझे सुख-चैन से रहने का उपदेश कर रही हो।" माँ ने कहा – "बेटे, मैंने तुम्हें जो बातें बताई हैं, उनका तू वास्तविक अर्थ नहीं लगा पा रहा है। मजबूत किले में रहने का अर्थ है – सर्वगुण-सम्पन्न गुरु की संगति में रहकर, कुविचारों को त्यागकर, उन्हीं के समान इच्छा-कामना से रहित जीवन व्यतीत करना। स्वादिष्ट भोजन करने का आशय है – जो भी रूखा-सूखा भोजना मिलता है, उसी को स्वादिष्ट मानना। इसी प्रकार नरम-मुलायम बिस्तर में सोने का मतलब है – जहाँ भी रात बितानी पड़े, वहीं चौकन्ने रहकर सोना। कंकड़-पत्थर पर सोने की नौबत आये, तो उसे भी नरम-मुलायम बिस्तर मानकर उसी पर खर्राटे भरकर सोना।"

संसार की मृगतृष्णा को पहचान कर भगवान के चरणों में स्वयं को अर्पित करना ही वैराग्य है। वैराग्य ग्रहण करने पर बुद्धि और ज्ञान जाग्रत हो जाते हैं, तब प्रवृत्ति निवृत्ति में बदल जाती है, भोग योग में बदल जाता है और भोगी से योगी बन जाने पर मन में कोई इच्छा-आकांक्षा नहीं रह जाती। योगी का वेश ही सुखोपभोग और ऐसो-आराम की जिन्दगी से दूर रखता है। ❑❑❑

परमहंस श्री रामकृष्णदेव जी का जीवन चरित

माधव प्रसाद मिश्र

(मिश्रजी द्विवेदीकालीन हिन्दी के प्रमुख गद्य-लेखकों में एक थे। सुप्रसिद्ध 'चन्द्रकान्ता-सन्तति' उपन्यास के लेखक श्री देवकीनन्दन खत्री द्वारा काशी के लहरी प्रेस से प्रकाशित 'सुदर्शन' मासिक का आपने सम्पादन भी किया था। प्रस्तुत लेख उसी के जनवरी, १९०२ ई० अंक में प्रकाशित होने के बाद, उन्हीं के द्वारा संकलित होकर १९०३ ई. में 'परमहंस श्रीरामकृष्णदेव का जीवनचरित और उपदेश' नामक पुस्तिका में भी प्रकाशित हुआ। जहाँ तक हमें विदित है, यही परमहंस श्रीरामकृष्ण देव की हिन्दी में प्राप्त प्रथम जीवनी है। इसके ऐतिहासिक महत्त्व को देखते हुए ही हम इसका पुनर्मुद्रण कर रहे हैं। भाषा, शैली और तथ्यों की त्रुटियाँ उसी काल की, यथावत् रहने दी गयी हैं। – सं.)

''पुराणमितिहासश्च तथा ख्यानानि यानि च।
महात्मनां च चरितं श्रोतव्यं नित्यमेव च।।''

अच्छे लोगों के चरित्र पढ़ने और सुनने से जैसे उन्नति के साधनों का ज्ञान होता है, वैसे ही अधोगति से बचने का अवसर मिलता है। इस लिए महाभारत में लिखा है कि ''पुराण, इतिहास, आख्यान और महात्माओं के चरित नित्य सुनने चाहिए।'' इस समय हम वङ्ग देश के उस प्रसिद्ध महात्मा का जीवन चरित निज मातृभाषा में संक्षेप से लिखते हैं कि जिसके निर्मल यश से न केवल भारतवासियों ही का चित्त आकृष्ट हुआ है, वरन योरोप और अमेरिका के विदेशीय सज्जनों का भी मन मोहित हो रहा है। इस जगद्विख्यात् महापुरुष का नाम – परमहंस रामकृष्णदेव है। इनकी –

जन्मभूमि

बङ्गाल प्रान्त के हुगली जिले में कमरपूकर[1] नाम का एक छोटा सा गाँव है। वहीं पर ईसवी सन् १८३३ में ता. २० फेब्रुअरी[2] अर्थात् १७५६ शकाब्द में फाल्गुण सुदी द्वितीया बुधवार को परमहंस जी का ब्रह्मकुल में जन्म हुआ था। इनके –

माता पिता

का शील स्वभाव भी प्रशंसनीय था। पिता का नाम खुदीराम चट्टोपाध्याय था और माता का नाम चन्द्रमणि देवी। चट्टोपाध्याय महाशय सरल चित्त, धर्म्मनिष्ठ, जपपरायण, भगवद्भक्त पुरुष थे। कमरपूकर में यद्यपि बड़े आदमी वा उच्च जाति के लोग अधिक नहीं थे, तथापि जो थे, वे सब उनको देवता के तुल्य समझते थे। चट्टोपाध्याय महाशय की सुशीला और सद्गुण सम्पन्न स्त्री का ऐसा दयार्द्र स्वभाव था कि, चाहे आप क्षुधित रह जाय, पर वह किसी और को भूखा नहीं देख सकती। क्षुधातुर को देखते ही वह जो घर में पाती उसे तत्क्षण दे डालती। उसके गर्भ से तीन पुत्रों का जन्म हुआ। बड़े रामकुमार, मझले रामेश्वर और छोटे रामकृष्ण थे। इनके –

कुलदेवता

भगवान् श्रीरामचन्द्र जी थे। चट्टोपाध्याय जी सर्वदा उन्हीं का भजन-स्मरण किया करते। एक बार जब वे गया जी गए तब कहते हैं कि वहाँ के अधिष्ठातृ देव भगवान गदाधर जी ने स्वप्न में इनसे कहा कि ''तुम्हारे घर में मेरा तेज प्रगट होगा!'' गयायात्रा के पश्चात् परमहंस जी का जन्म हुआ। हरिभक्त पिता ने स्वप्न की बात का स्मरण कर पुत्र का नाम गदाधर रक्खा था। पीछे से रामकृष्ण नाम पड़ गया।

बाल्य काल

में परमहंस जी कुछ दुबले पतले थे। किन्तु देखने में उज्ज्वल, गौर वर्ण, सर्वप्रिय और बहुत ही मिठबोले थे। खेल कूद में खूब मन लगाते थे। परमहंस जी के खेल में उन कृष्णलीलाओं की बहुधा नक़ल हुआ करती थी, जिनको वे एक बार कथा में सुन पाते या रासलीला में देख लेते। देवता सम्बन्धी गान वा भजन भी एक बार के सुनने से याद हो जाता और ये सुस्वर से उसे गाने लगते। परमहंस जी का स्वर लड़कपन ही से रसीला था। जैसा इन सब बातों का चाव था, वैसा ही चित्र लिखने और मूर्ति बनाने का भी था। देवी-देवताओं की अनेक प्रकार की प्रतिमा लिखा करते और मिट्टी की भी बनाया करते तथा दूसरे प्रेमियों को दिखा कर उनका भाव समझाया करते।

इनके गाँव में ''लाहा'' नाम के किसी बङ्गाली परिवार की धर्म्मशाला थी। उसमें आते जाते बहुत से पथिक उतरा करते। विशेषत: जगन्नाथ जी का मार्ग इसी गाँव में से जाने के कारण, वहाँ साधु सन्तों का बड़ा समागम होता था। कौतुकाकृष्ट बालक रामकृष्ण बहुधा उन्हें देखने जाते और उनकी बातों को ध्यान से सुना करते। एक बार साधुओं की देखादेखी इस अनुकरणप्रिय बालक ने अपने कपड़े फेंक, वैसे ही लङ्गोट लगा लिया और हँसते हँसते अपने बड़े भाई रामकुमार और स्नेहमयी माता से आन कर कहा – ''देखो मैं कैसा अच्छा साधु बना हूँ।'' बालक का स्वांग देखकर राम-कुमार हँसने लगे और माता ने उसका मुख चुम्बन किया! पर यह किसी ने नहीं जाना कि इसका यह स्वांग, स्वांग नहीं है। सच्चा रूप है। यह विरक्तभाव का अङ्कुर एक दिन में अपने स्वरूप का इतना विस्तार करेगा कि जिसके आश्रय में सहस्रों सन्तप्त प्राणियों को आश्रय मिल सकेगा।

---

१. कामारपुकुर

२. वस्तुत: उनका जन्म १८३६ ई. में हुआ था।

लिखना पढ़ना

लड़कपन ही से परमहंस जी को नहीं रुचा। बारह वर्ष तो खेल खेलने ही में बिता दिए फिर कहने सुनने से पढ़ने भी लगे, तो सो भी बेमन। बङ्गला भाषा भी अच्छी तरह नहीं सीखी। उनके हाथ की लिखी एक बङ्गला रामायण है, उसी से जाना जाता है कि वे कुछ पढ़े भी थे। जिस समय इनको पाठशाला में भेजा गया था, उस समय इन्हीं ने कहा था कि "मैं लिख पढ़ कर क्या करूँगा? इसका फल रूपया पैसा वा दो चार मुट्ठी अन्न के सिवाय और क्या है? जिस विद्या का फल कनक कान्ता है उसको मैं नहीं पढ़ूँगा। मुझे ऐसी विद्या चाहिए, जिसका इनसे सम्बन्ध न हो।"

कलकत्ते के झामापूकर नामक स्थान में परमहंस जी के बड़े भाई रामकुमार चट्टोपाध्याय एक पुराने ढंग की संस्कृत पाठशाला स्थापन कर विद्यार्थी पढ़ाया करते। लिखने पढ़ने के नाम से रामकृष्ण भी वहाँ भेजे गए, किन्तु यहाँ आने पर भी इनका मन जैसा चाहिए वैसा पढ़ने में नहीं लगा। यहाँ पड़ोस की स्त्रियां इनसे विशेष स्नेह करतीं और अनेक प्रकार के उनसे भजन सुनतीं। एक तो ब्राह्मण, तिस पर बालक, देखने में सुन्दर, मिष्टभाषी और मधुर गीत गाने में निपुण, इसलिए मुहल्ले की प्रत्येक हिन्दु स्त्री से वे समाहत होते।

ईसवी सन् १८५३ में कलकत्ते के जान बाजार में रहने वाली, बिख्यात नामा, श्रीमती रासमणि दासी ने कलकत्ते में उत्तर की ओर अनुमान तीन कोस दूर गङ्गा जी के पूर्व तट पर

दक्षिणेश्वर

नामक मनोहर स्थान पर बहुत सा रुपया लगा कर, काली देवी और राधामाधव का अति सुन्दर मन्दिर बनवाया था और शूद्रवंशोद्भवा होने के कारण उसने अपने गुरु के नाम से इनकी प्रतिष्ठा कराई थी। क्योंकि वह जानती थी कि यदि उसके नाम से प्रतिष्ठा होगी तो ब्राह्मणादि उच्च जाति के लोग मन्दिर में नहीं आवेंगे। इसलिए उसने ब्राह्मण द्वारा मूर्तियों को प्रतिष्ठित किया था। इस अवसर पर परमहंस जी के बड़े भ्राता राजकुमार जी को पूजापाठ में सुदक्ष और सुपण्डित समझ कर उसने अपने मन्दिर का पूजारी बना कर दक्षिणेश्वर में भेजा और भाई के साथ परमहंस जी भी वहाँ जा पहुँचे। यही स्थान अन्त में उनकी सिद्धियों का पीठ और उन्नतियों का मूल माना गया।

शास्त्र के वाक्यों का आदर रामकृष्ण के पवित्र हृदय में इसी समय से होने लगा था। उनके बड़े भाई के साथ उनके दूसरे भाई का इस बात पर शास्त्रार्थ होता था कि "शूद्र प्रतिष्ठित मन्दिर का किसी श्रेष्ठ ब्राह्मण को अर्चक होना चाहिए कि नहीं।" छोटा उनकी अर्चकता के विरुद्ध प्रमाण सुनाता था और बड़ा भाई उन वाक्यों की व्यवस्था कर अर्चकता का मण्डन करता था। धर्म्मभीरु रामकृष्ण के चित्त पर शास्त्र के इन वाक्यों का ऐसा प्रभाव पड़ा कि प्रतिष्ठा वाले दिन जब कि दस पन्द्रह सहस्र मनुष्यों का वहाँ धूमधाम से भोजन हुआ था, उन्होंने कुछ न खाया! दिन भर उपवास कर रात को एक दूकान से एक पैसे का मोल लेकर चबैना किया और फिर इस प्रतिज्ञा पर कि वे अपना भोजन गंगा तट पर अलग बना कर खाया करें, भाई के साथ रहने लगे। प्रथम भाई की उपस्थिति में सहचारी अर्चक रहे, अनन्तर राधामाधव की पूजा करने लगे और फिर रामकुमार जी के परलोकवास होने पर काली जी की पूजा में नियुक्त हुए।

पन्द्रह वा सोलह वर्ष की अवस्था में जब रामकृष्ण का उपनयन संस्कार हुआ तभी से उनके अभिभावक, परमहंस जी के –

विवाह

का निर्द्धारण करने लगे ! विवाह की बात सुन कर बालक रामकृष्ण आनन्दित हुए थे। विवाह क्या वस्तु है ! उसका प्रयोजन क्या है, इस बात को वह नहीं जानते थे। पन्द्रह सोलह वर्ष का ईश्वरानुरागी बालक इन सब बातों को क्या जाने !

रामकृष्णदेव की जन्मभूमि के समीप जयरामवाटी नामक गाँव में रामचन्द्र मुखोपाध्याय नाम के ब्राह्मण रहते थे। उनकी आठ वर्ष की लड़की श्रीमती शारदामणि से रामकृष्ण का विवाह हुआ। विवाह के पीछे जब कभी ससुराल की चर्चा चलती तब उनका वहाँ जाने को जी चाहा करता, किन्तु यह चाह भोगलिप्सु व्यक्ति की न थी, एक शुद्ध स्वभाव बालक की थी।

रामकृष्णदेव का स्वभाव पहिले से ही ऐसा था कि लिखने-पढ़ने को छोड़ और जिस बात को करते खूब मन लगाकर करते।

कालीदेवी की पूजा

करते करते उनके मन में दृढ़ भावना हो गई कि उनकी और जगत् की जननी एक मात्र भगवती कालीदेवी ही हैं। उनके मन में पुन: पुन: यही विचार उठने लगा कि काली जी की मूर्ति सजीव है। वह चलती है, बोलती है और समर्पित वस्तुओं को ग्रहण करती है। वह प्रहर प्रहर तक भक्तिभाव से स्तोत्र पाठ करने और गद्‌गद् कण्ठ से "माँ ! माँ !" कह कर पुकारने लगे। इस समय से उनके भाव की तरङ्ग बढ़ने लगी और वह आनन्दसागर में निमग्न होने लगे। उनकी प्रार्थना का तात्पर्य यह था कि "माँ ! मुझ पर दया कर। तुमने अनेक भक्तों पर दया की है, तो क्या मुझ पर दया न करोगी? दयामयि! मैं शास्त्र नहीं जानता, मैं पण्डित नहीं हूँ, कुछ नहीं जानता और जानने की इच्छा भी नहीं करता, कहो तुम मुझ पर दया करोगी कि नहीं? माँ! मेरे प्राण जाते हैं,

मुझे दर्शन दो, मैं अष्टसिद्धि की इच्छा नहीं करता, माँ ! मैं लोगों से मान भी नहीं चाहता, माँ ! मैं केवल तुम्हारा दर्शन चाहता हूँ।'' आरती पूरी कर वह अकेले देवी के सन्मुख बैठ कर रोया करते और कभी खिलखिला कर हँसने लगते। जिस अकपट विश्वास और अनुराग से ईश्वर दर्शन हुआ करता है वह इस समय रामकृष्णदेव में दिखाई दिया। वह रात दिन माता काली के दर्शनों की चिन्ता करने लगे। अन्त को प्राण व्याकुल हो गए। जब प्राण रोने लगे, जब ब्रह्ममयी के दर्शन के लिए प्राण निकलने को तैयार हुए, जब मन जगत् की सब वस्तुओं का विसर्जन कर चुका, तब अन्तर्यामिनी कालीदेवी भी सब वृतान्त जान गई ! एक दिन रामकृष्ण देवी के सन्मुख बैठ कर ''माँ ! दर्शन दे'' कह कर रो रहे थे, ऐसे समय में वे अचानक –

उन्मत्त की तरह

हो गए। उनके मुख और नेत्रों पर लाली छा गई, दृष्टि बाह्य जगत् से अन्तर्हित हुई, नेत्रों से अश्रुधारा बह चली। दूसरे लोगों ने आन कर उन्हें उठाया। दूसरे दिन भी बेसुध पड़े रहे। मुख में आहार देने से कुछ खा पी लिया। शौच फिरने और लघुशङ्का करने का ध्यान तक न रहा। केवल ''माँ ! मा !'' कह कर रोने लगे। दूध पीने वाला बच्चा जैसे माता के लिए चिल्लाया करता है, वैसे ही यह भी दयामयी जगज्जननी को पुकारने लगे और दर्शन के क्षणिक आनन्द के पश्चात् बिरहावस्था से व्यथित हुए। इस प्रकार उन्मत्तावस्था में वे छः मास रहे। तदनन्तर क्रम से दशा में कुछ समता आई। तब उनका साधन कार्य आरम्भ हुआ। वह सर्वदा कहा करते थे कि ''फूल के बिना फल नहीं होता, किन्तु कुम्हड़ा (पेठा) आदि के पहले फल लगता है, पीछे फूल खिलता है।'' रामकृष्ण देव को ईश्वरदर्शन और पीछे उनका साधन कार्य आरम्भ हुआ।

अभिमान वा अहंकार ईश्वर के मार्ग में बड़ा कण्टक है। इसलिए रामकृष्ण ने इसको दूर करने का प्रथम यत्न किया। वह काली जी से कहने लगे कि ''माँ ! मेरा अहंकार नष्ट कर दो, मैं दीन से दीन, हीन से हीन हूँ, यही मेरी समझ रहे, क्या शूद्र, क्या चाण्डाल, क्या पशुपक्षी, सब मेरी अपेक्षा श्रेष्ठ हैं, यह ज्ञान मुझे सर्वदा रहे।' इस प्रकार अपने अहंकार को निवृत्त करने के लिए केवल प्रार्थना ही करके वह नहीं रहते थे, वरन उन बातों को भी करते थे जिनके करने में एक ब्राह्मण को तो क्या, शूद्र को भी संकोच उपस्थित हो। देखनेवाले उनका तिरस्कार करते पर इससे उनके भाव में कुछ अन्तर नहीं होता। कोई कहता यह पागल हो गया, कोई समझता इसमें भूत आ गया और कोई कहने लगता कि यह संस्कारभ्रष्ट है। उनके प्रेमप्रवाह के निकट बन्धुओं का उपदेश, शत्रुओं का उपहास, मन्दिर वालों की ताड़ना, टिकनें नहीं पाती। वह अपने कार्य को जब तक पूरा नहीं कर लेते थे तब तक उसी में दत्तचित्त रहते।

अनन्तर उन्होंने कामिनी कांचन के त्याग में मन लगाया। सोचा कि ईश्वर की शक्ति को माया कहते हैं। इस माया ही से जगत् की सृष्टि हुई है। माता महामाया ही का स्वरूप सब स्त्रियाँ हैं। इसलिए जगत् की समस्त स्त्रियाँ हमारी माता हैं। उस दिन से स्त्रियों में उनका मातृभाव हो गया। फिर बिचारा कि रुपै पैसे से अहङ्कार बढ़ने के सिवाय और क्या परमार्थ सिद्धि हो सकती है? इन सब की वसुन्धरा पृथ्वी से उत्पत्ति होती है एवं अन्त में उसी में इनको मिल जाना है और इनका मूल्य स्थिर नहीं है, सब कल्पित है। फिर इनमें और मिट्टी में कितना अन्तर है? कुछ नहीं। द्रव्य सब अनर्थों का मूल है। ऐसा विचार कर उन्होंने अपने रुपये गङ्गा जी में फेंक दिए और फिर कभी उनका स्पर्श भी नहीं किया।

साधारण व्रत नियमादिक कर के परमहंस जी ने योग की ओर मन लगाया। दक्षिणेश्वर में मन्दिर के समीप ही एक बहुत बड़ा वटवृक्ष है। उसके नीचे पुष्पित वृक्ष और लताओं की एक सुन्दर कुञ्ज बनी हुई थी। उसमें गंगा जी की रेती बिछा कर रामकृष्ण आराधन और साधन करने लगे। एक 'तोतापुरी' नाम के संन्यासी से

संन्यास ग्रहण

कर योग सीखने में चित्त दिया। तोतापुरी जी हठयोग में तो बहुत निपुण थे, परन्तु जानते राजयोग भी थे। जो विद्या उन्होने वर्षों में सीखी थी उसको रामकृष्ण ने थोड़े ही दिनों में उनसे सीख लिया। दिन में या रात में जब वे अपने को अकेला देखते तभी उक्त कुञ्ज में आ बैठते और अपने साधन का कार्य को पूरा करते। कुछ दिनों में –

योगसिद्धि

के पश्चात् इनका शरीर स्थूल हो गया और लोग इन्हें परमहंस जी कहने लगे। जब से उन्मत्तावस्था हुई थी, तब से पूजा का कार्य करने के लिए परमहंस जी के एक आत्मीय हृदयानन्द मुखोपाध्याय नियुक्त हो गए थे; किन्तु परमहंस जी की जब कभी इच्छा होती, तब शुद्धाशुद्धि के विचार बिना ही वे भी पूजा करने पाते, किन्तु उनकी पूजापद्धति मङ्गल पूजा न थी। कभी वे चँवर करते ही करते भावमग्न हो जाते और कभी घण्टों ही पुष्प चढ़ाते रहते। स्तोत्र पाठ करने लगते तो उसकी भी सहज में इतिश्री नहीं होती। कभी नृत्य करते, कभी क्रन्दन करने लगते। कभी कभी उनका भाव अघोरियों जैसा देखने में आता। मल मूत्र का त्याग करने पर भी शरीर की शुद्धि का विचार नहीं होता। इसी समय से इनको भगवती का प्रत्यक्ष दर्शन बार बार होने लगा और ये अपनी शङ्काओं का समाधान स्वयं काली जी से करने लगे। यद्यपि

पूर्वापेक्षा इनकी दशा अच्छी थी, तथापि बीच बीच में भावान्तर हो जाता और ये घंटों बेसुध पड़े रहते। वैद्य वायुरोग समझ कर तन्नाशक औषध के उपयोग की व्यवस्था कराते और कोई कोई इसी रोग की निवृत्ति का उपाय स्त्रीसहवास को समझ उसका ढंग जमाते, किन्तु रामकृष्ण प्रथम ही मान चुके थे कि "स्त्रीय: समस्तास्तव देवि ! भेदा:" इसलिए यह स्त्रीसंग को मातृसंग के तुल्य जानते थे। तथापि कई बार लोगों ने परीक्षा कर देखा पर उनको इस विषय में अच्युत पाया। थोड़े दिनों के पीछे दक्षिणेश्वर में –

एक विदुषी ब्राह्मणी

आई। उसके मस्तक पर खुले हुए केश, शरीर पर भगवा वस्त्र और सुन्दर मुख पर तेज देखने से प्रतीत होता था कि साक्षात् जगदम्बा धराधाम में अवतीर्ण हुई हैं। रामकृष्ण ने उसे देखते ही "दयामयी माँ !" कह कर पुकारा और वह भी 'प्रिय वत्स' कह कर इनके निकट आई। मातृदर्शन का सुख परमहंस जी को और पुत्रलाभ का सुख ब्राह्मणी को प्राप्त हुआ। कहते हैं कि यह ब्राह्मणी शास्त्रार्थ करने में निपुण थी और तान्त्रिक अनुष्ठान की विधि खूब जानती थी। बहुत दिनों तक यह परमहंस जी के पास रही और कई प्रकार के तान्त्रिक अनुष्ठान इसने उनको सिखाए।

मन्दिर की मालिकन रासमणि के जमाता –

बाबू मथुरानाथ

ही एक प्रकार उनके कार्यों के सम्पादक थे। इसलिए बहुधा मन्दिर का प्रबन्ध वही किया करते। मथुरानाथ को पहिले पहिल उक्त विदुषी ब्राह्मणी ने कहा कि परमहंस जी साधारण पुरुष नहीं हैं पर उनको उस समय विश्वास नहीं हुआ। वह लोगों के कहने के अनुसार उनको रोगी समझ कर कलकत्ते के एक प्रसिद्ध वैद्य के पास चिकित्सा कराने को ले गए। वहाँ पर उन्होंने एक अनुभवी वृद्ध वैद्य से सुना कि "यह रोगी नहीं कोई योगी है"। तब से बाबू साहब की कुछ कुछ इधर भक्ति होने लगी, परन्तु इधर परमहंस जी के कार्यों से मन्दिर में हलचल मच गई। कारण कि जो पुष्प नैवेद्य आदि काली जी के समर्पण के निमित्त आता उसको प्रतिमा पर न चढ़ा, भावावेश में अपने पर चढ़ा लेते और नैवेद्य को खा लेते। कभी काली जी की पूजन सामग्री से बिलाई को पूजने लगते। इससे मन्दिर के तत्वावधायक ने इनका भीतर जाना बन्द कर दिया, पर यह लड़झगड़ कर भीतर गए बिना नहीं रहे। इस खटपट को सुनकर रासमणि और मथुरानाथ ने द्वारपालों को नियुक्त कर दिया जिसमें परमहंस जी पूजा में गड़बड़ करने न पावें पर एक दिन मथुरानाथ ने परमहंस जी का अलौकिक स्वरूप देखकर उनको शङ्कर समझा और उस दिन से वे 'पिता जी' कह कर पुकारने लगे। रासमणि भी इनकी कई अलौकिक बातों को देखकर समझ गईं कि यह कोई बड़े महापुरुष हैं और उनमें भक्ति भाव रखने लगीं। उनका मन्दिर में जाना जो बन्द कर दिया गया था फिर से जारी हुआ। इधर प्रगाढ़ भक्ति भाव के साथ परमहंस जी की मनोवृत्तियाँ शान्त होने लगीं और समदर्शिता बढ़ने लगी। इस प्रकार क्रम से वह साधन दशा से आरूढ़ दशा में पहुँचे।

ईसवी सन् १८६६ में ब्रह्म समाज के प्रचारक प्रसिद्ध बाबू केशवचन्द्र सेन जी दक्षिणेश्वर के पास एक बाग में आन कर रहे। परमहंस जी की स्तुति सुन कर एक दिन वे इनके पास आए और इनका ईश्वरानुराग, अत्युच्च ज्ञान और दृढ़ धारणा देख कर चमत्कृत हुए और इनके उपदेश से अपने को धन्य माना। बाबू केशवचन्द्र फिर तो नित्य आने लगे और कभी कभी इनको अपने बंगले पर भी ले जाने लगे। इसका यह फल हुआ कि बाबू केशवचन्द्र का विचार बदल गया और वे निराकार की शुष्क वक्तृता देने के बदले साकार ब्रह्म के अनुरागी हो गए।

सब से प्रथम बाबू केशवचन्द्र सेन ने परमहंस जी की योग्यता की प्रसिद्धि की। उनकी उपदेश-प्रणाली की प्रशंसा और कुछ उपदेशों का निदर्शन उन्होंने संवादपत्रों में प्रकट किया, जिससे कलकत्ते के सहस्रों शिक्षित स्त्री पुरुषों का वहाँ समागम होने लगा। इनके सरल और प्रभावशाली उपदेश की बङ्ग देश में धूम पड़ गई। कितने ही नास्तिक उपदेश सुनकर आस्तिक हो गए, कितने ही कठोर हृदय नम्र हो गए। शिक्षित पुरुषों के हृदय में जो ब्राह्मों समाज की शिक्षा ने विषवृक्ष बोया था वह परहंस जी के उपदेश से निर्मूल हो गया। ईसवी सन् १८८५ में उनके गले में

पीड़ा

हुई और होते होते वहाँ घाव पड़ गया। कलकत्ते के प्रसिद्ध डाक्टर महेन्द्रलाल सरकार जैसे वैद्यों की चिकित्सा से भी कुछ उपकार न हुआ। डाक्टर साहेब ने कहा कि आप बोलना बन्द कर दें तो रोग आराम हो, पर यह परमहंस जी से कब हो सकता था। वह काली जी की स्तुति और भक्तों को उपदेश निरन्तर करते रहे। समाधिस्थ होने के सिवाय वह चुप नहीं होते थे और कहते थे कि इस क्षणभङ्गुर शरीर से किसी का जितना उपकार हो जाय उतना ही अच्छा है।

ता. १६ अगस्त सन् १८८६ की रात को दस बजे तक वे बोलते थे। अनन्तर उन्होंने ऐसी समाधि लगाई कि भक्तों के बार बार रोने से भी नहीं उतरीं ! कई घण्टों की परीक्षा के पश्चात् शिष्यों ने समझा कि परमहंस देव ब्रह्मपद को प्राप्त हुए !! ❑❑❑

(माधव मिश्र निबन्ध-माला, प्रथम भाग, सं. १९९२ वि., इंडियन प्रेस, प्रयाग)
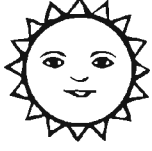
बच्चों के स्वामी विवेकानन्द
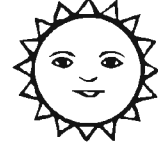
नवीन दीक्षित, होशंगाबाद

सन् १८९३ में शिकागो धर्म-सम्मेलन में व्याख्यान देकर प्रसिद्ध हुए स्वामी विवेकानन्द से हम सभी परिचित हैं। स्वामीजी बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न महामानव थे। उनके जीवन -कथा के लेखक नोबल पुस्कार विजेता फ्रांसीसी उपन्यासकार रोमॉ रोलॉ ने उनके बारे में लिखा है – "पूर्व और पश्चिम में जो भी उनके समीप आया; उसने उनके समक्ष आदर से सिर झुका लिया। वे संन्यासी के वेश में भी राजा थे।"

अपने विश्व भ्रमण के दौरान वे अनेक महान् लोगों के सम्पर्क में आये। इनमें सन्त, विद्वान्, वैज्ञानिक, अभिनेता, गायक तथा धनाढ्य लोग भी शामिल थे। इसी काल में उनका कुछ बच्चों से भी सम्बन्ध बना। स्वामीजी में अपने देश के प्रति असीम प्यार और गरीबों के प्रति गहरी करुणा का भाव कूट-कूट कर भरा था। एक ऐसे विराट् व्यक्ति और बच्चों के साथ सान्निध्य भी रुचिकर तथा प्रेरणादायी है।

एक प्रसंग निम्नलिखित है। स्वामीजी विश्वधर्म सम्मेलन के बाद नवम्बर १८९३ में शिकागो के लीआन दम्पति के घर ठहरे हुए थे। इनकी पोती, कॉरनेलिया कांगर भी अपनी विधवा माँ के साथ इसी घर में रहती थी। इसी छह वर्षीय प्यारी-सी बच्ची के स्वामीजी से सम्बंधित यह संस्मरण हैं – "स्वामीजी ने मेरी दुखी माँ को अपने पति से बिछुड़ने के सदमें से उबरने में बहुत मदद की थी। स्वामीजी एक महान् व्यक्ति थे। उनकी तेजस्वी आँखें, आकर्षक लययुक्त आवाज, आइरिश लोगों जैसा ठोस उच्चारण और मनमोहक मुस्कान – सब कुछ विलक्षण था। वे मुझे भारत की कथाएँ सुनाते। फिर कभी भारत के बन्दरों, मोरों, हरे-हरे तोतों, बरगद के भीमकाय वृक्षों, फल-फूल और सब्जियों के बारे में बड़े चाव से बताते। वे जब भी बाहर से घर में आते, मैं दौड़कर उनके पास जाकर चिल्लाकर – 'स्वामीजी मुझे एक और कहानी सुनाओ' – कहते हुए उनकी गोद में चढ़ जाती। फिर कभी जब वे अपने कमरे में ध्यान करते, तो मैं उनके कमरे के दरवाजे तक जाकर रुक जाती और मन-ही-मन में समझ जाती कि वे एकान्त चाहते हैं। वे मुझसे कई तरह के प्रश्न करते कि मैंने स्कूल में क्या पढ़ा और मुझे अपनी किताबें दिखाने को कहते। वे नक्शे पर मुझे भारत को दिखाकर, उसके बारे में बताते। मुझे अब तक याद है कि नक्शे पर भारत गुलाबी रंग का दिखता था। वे यह देखकर दुखी हो जाते कि जैसी अच्छी स्कूली शिक्षा हम अमरीकी लड़कियों को मिलती है, वैसी शिक्षा पाने का भारतीय लड़कियों को मौका तक नहीं मिलता। मेरी दादी महिलाओं के अस्पताल की अध्यक्ष थीं। स्वामीजी उनके साथ यह अस्पताल देखने जाते और शिशु-मृत्यु-दर आदि के आंकड़ों के बारे में पूछते।

"जब उन्होंने व्याख्यान देना आरम्भ किया, तब लोग भारत में उनके द्वारा प्रस्तावित सेवा-कार्य के लिए धन देने लगे। उनके पास कोई बटुआ तो था नहीं, इसलिए वे उसे एक रूमाल में बाँध लिया करते थे और एक छोटे से गर्वीले बालक की भाँति उसे घर लाकर मेरी दादी की झोली में डाल देते। मेरी दादी ने उन्हें अलग-अलग कीमत के सिक्के गिनना सिखाया। वे गिनकर उनको सावधानी से रख देतीं।"

दूसरे प्रसंग में बच्चों के प्रति स्वामीजी के सेवा-भाव की झलक मिलती है। स्वामीजी – भगिनी निवेदिता तथा अन्य शिष्यों के साथ हिमालय की यात्रा पर गए थे। प्रवास के दौरान स्वामीजी सह-यात्रियों को अपने भ्रमण के किस्से सुना रहे थे, तभी गाँव के लोग, बुरी तरह घायल एक बच्चे को उनके पास लाए। उसका हाथ जख्मी था। स्वामीजी ने अपनी चर्चा को बीच में ही छोड़कर, स्वयं उस बच्चे के घाव की ठीक से धुलाई करके उस पर मरहम-पट्टी कर दी।[१]

स्वामीजी ने विश्वधर्म सम्मेलन में जाने के पूर्व, पूरे भारत का भ्रमण किया था। वे भारत के जनजीवन तथा इसकी संस्कृति में पूरी तरह से घुल-मिल जाना चाहते थे। इसी भ्रमण के दौरान, वे बिहार प्रान्त में किसी सज्जन के घर ठहरे हुए थे। तब रोज सुबह सैर के लिए जाना, उनकी आदत थी। उनके साथ एक बालक भी सैर के लिए जाता था। एक दिन स्वामीजी ने देखा कि उस बालक के जूते के फीते खुले हुए थे। जिन स्वामी विवेकानन्द के सामने, बड़े-बड़े राजा-महाराजा, धनकुबेर, विद्वान् तथा वैज्ञानिक झुक जाते थे, वे स्वयं इस बालक के सामने झुककर, उसके जूते के फीतों को बाँधते हुए कहते हैं – "हमें छोटे-छोटे कार्यों को भी पूरा मन लगा कर करना चाहिए।"[२]

यह घटना तो विश्व-धर्म सम्मेलन के पूर्व की है। तब तो स्वामीजी इतने विख्यात नहीं हुए थे, लेकिन इस छोटी-सी घटना का उस बालक के मन पर गहरा असर पड़ा। वह इस छोटी सी घटना को फिर कभी नहीं भूल सका। इस घटना ने उसके चरित्र-निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की।

ऐसा था स्वामीजी का प्रभाव! वे बच्चों से बहुत प्यार करते थे और उनकी आवश्यकताओं का पूरा ध्यान रखते थे।

❑❑❑

---

१. The Life of Swami Vivekananda, His Eastern and Western Disiples, Kolkata, Vol. II, P. 368

२. Meditation, Ecstasy and Illumination, Swami Ashokananda, Kolkata, Ed. 1993, Pp. 128-29